ओ३म
गृहस्थ धर्म
यजुर्वेद
सन्ध्या
वेद पाठ
पितृयज्ञ
बलि
र्वदेशिक श्रावणी विशेषांक — आचार्य रामदेव

॥ महर्षि-वचन ॥

वह कुल धन्य ! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् ! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना मातासे सन्तानों को उपदेश पहुंचता है उतना किसी से नहीं।

यही माता पिता का कर्त्तव्य कर्म, परम धर्म और कीर्ति का काम है जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षा युक्त करना।

—सत्यार्थप्रकाश

प्राप्तिस्थान—

श्री मन्त्री जी

आर्य समाज मन्दिर, भांडूप

ईश्वर नगर, आगरा रोड़, बम्बई-७८

॥ ओ३म् ॥

गृहस्थ धर्म

[सार्वदेशिक साप्ताहिक का विशेषांक]
महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली-१

वर्ष ४] -श्रावण शुक्ला पूर्णिमा २०२६ वि० [अङ्क ४३

सम्पादकीय

'गृहस्थ धर्म' विशेषांक क्यों ?

मानव का लक्ष्य क्या है--इस सम्बन्ध में जैसी स्पष्ट परिकल्पना वैदिक धर्म ने दी है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। सार रूप से यह कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि ही मानव जीवन का लक्ष्य है। 'पुरुषार्थ' शब्द में ही यह ध्वनि निहित है। पुरुषार्थ (पुरुष+अर्थ,-अर्थात् पुरुष का प्रयोजन। जिस प्रयोजन से पुरुष का निर्माण हुआ है उससे भिन्न मानव जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता।]

चार प्रकार के पुरुषार्थों की गणना इस प्रकार है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थों में सबसे पहले धर्म का उल्लेख है। इसका भाव यह है कि धर्मपूर्वक अर्थ और धर्मपूर्वक काम का सेवन ही वैदिक धर्म को ग्राह्य है, अधर्मपूर्वक अर्थ और काम का सेवन नहीं। संक्षेप में यों कहा जा

सकता है कि धर्मपूर्वक अर्थ और काम का सेवन करते हुए मोक्ष प्राप्त करना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वर्ण और आश्रम की व्यवस्था है। आश्रम व्यवस्था वयत्तिक जीवन की उन्नति का सोपान है और वर्ण-व्यवस्था सामाजिक जीवन की उन्नति का सोपान है।

अर्थ और काम ये दोनों जीवन के संचालक तत्व हैं। काम जहां व्यक्तिगत जीवन के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है वहां अर्थ सामाजिक जीवन के संचालन में।

इस अर्थ और काम के सेवन के लिए जो आश्रम है, इसी का नाम गृहस्थाश्रम है। पहले कह आए हैं कि अर्थ और काम का अधर्मपूर्वक सेवन सर्वत्र वर्जित है क्योंकि वह मोक्ष के मार्ग में साधक होने के बजाय बाधक है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन बिना अर्थ और काम के चल नहीं सकता। इसलिए धर्म-पूर्वक उनके सेवन के लिए शास्त्रकारों ने विधिवत् अलग आश्रम की ही व्यवस्था कर दी और उसे गृहस्थ आश्रम के नाम से सम्बोधित किया।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमों का अपने अपने स्थान पर विशेष महत्व है। इनमें से कोई भी उपेक्षणीय या गर्हणीय नहीं है। इनमें ध्यान देने की बात यह है कि अर्थ और काम के सेवन का सम्बन्ध अन्य तीनों आश्रमों से न होकर केवल गृहस्थाश्रम के साथ है। वय, तप, त्याग और अहर्निश परोपकार-परायण जीवन बिताने के कारण संन्यास का दर्जा बेशक सबसे ऊंचा है, किन्तु ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये तीनों आश्रम जिस एक आश्रम की बदौलत चल पाते हैं, वह केवल गृहस्थ आश्रम है। इसलिए कहा है—

यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।।

—जैसे समस्त नदी नाले अन्ततः समुद्र में जाकर स्थित होते हैं वैसे समस्त आश्रमवासी गृहस्थ आश्रम के आश्रय से स्थिर रहते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो अन्य समस्त आश्रमों का आधार होने से गृहस्थ आश्रम सबसे बड़ा है। इसी लिए इसे लोक और परलोक का साधक बताया गया है।

यह गृहस्थाश्रम सर्वव्यापक, सर्व-सुलभ और सर्वसहज समझा जाता है, किन्तु यह अन्य किसी भी आश्रम से कम कठिन नहीं। जितने दुःख, क्लेश, संघर्ष और रागद्वेष की गुंजायश इस आश्रम मे है, उतनी अन्य किसी आश्रम में नहीं। इसीलिए इसे मनु महाराजने 'अधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः' अर्थात् दुर्बल इन्द्रियों वाले व्यक्ति द्वारा धारण करने के अयोग्य बताया गया है।

सब आश्रमों का आधार क्योंकि गृहस्थ आश्रम है, इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यदि गृहस्थ आश्रम का समुचित निर्वाह हो सके तो अन्य आश्रमों का भी समुचित निर्वाह हो सकेगा, गृहस्थाश्रम के बिगड़ जानेसे अन्य सब आश्रम भी बिगड़ जाएंगे। 'एक हि साधे सब सधे' वाली कहावत सही तौर से गृहस्थाश्रम पर ही लागू होती है।

परमात्मा ने जो सृष्टि-यज्ञ रचा रखा है उसे चालू रखने के लिए गृहस्थाश्रम आवश्यक आश्रम है। अर्थ और काम के निर्विवेक अनियन्त्रित सेवन का एव स्वेच्छाचारिता का लाइसेंस नहीं है, वह तो जीवन को अपने हाथों नरक में परिणत कर देना है। अपने जीवनको अपने इस पृथ्वीतल को यदि कोई स्वर्ग बनाना चाहता है तो उसे गृहस्थाश्रम में रहकर वह साधना करनी होगी, उसके बाहर नहीं।

संसार को लगातार उन्नति के पथ पर आरूढ़ रखने का केवल एक उपाय है और वह यह कि मानव अपने पीछे अपनी सन्तान को अपने से अधिक योग्य बनाकर छोड़ जाए। स्वयं मानव प्रकृति में यह बात निहित है। प्रत्येक व्यक्ति बलवान्, विद्वान्, धनवान् और कीर्तिमान् बनना चाहता है। आखिर अर्थ और काम की सारी उपासना और है किस लिए ? यदि कोई अन्य व्यक्ति उससे अधिक बलवान्, विद्वान्, धनवान् और कीर्तिमान् निकल जाए तो उसके मन में सहज ईर्ष्या होती है किन्तु यदि उसका पुत्र उससे इन गुणों में बाजी मार जाए तो उसे ईर्ष्या के बजाय प्रसन्नता होती है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपने पुत्र को शरीर, मन और बुद्धि में अपने से अधिक योग्य देखना चाहता है। मानवमन की यह वृत्ति ही सृष्टि को विकास की ओर ले जाने का साधन है। सृष्टि के इस विकास में गृहस्थियों का सबसे अधिक उत्तरदायित्व है।

गुरुकुल कांगड़ी के भूतपूर्व आचार्य स्वर्गीय श्री रामदेव जी पौरस्त्य तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के देश-विश्रुत माने हुए आचार्य थे। उन्होंने अपने इस निबन्ध में गृह्यसूत्रों में आधार पर गृहस्थ धर्म का जैसा सांगोपांग विवेचन किया है, वह न केवल पठनीय है, बल्कि सही दिशा दिखाने वाला है। वैदिकधर्म ने गृहस्थ धर्म के पालन के लिए जैसा निर्देश दिया है, उसके अनुसार यदि समस्त मानव-जाति आचरण करने लग जाए तो निःसन्देह वह आज की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी होगी।

इसी भावना के साथ 'सार्वदेशिक' के विशेषांकों की गौरव-पूर्ण परम्परा के अनुरूप श्रावणी पर्व के अकिंचन उपहार के रूप में हम यह विशेषांक अपने पाठकों की सेवा में भेंट कर रहे हैं।

– सम्पादक

गृहस्थ-धर्म

विद्यार्थी

प्राचीन काल में विद्यार्थियों का बड़ा मान्य था, समाज का प्रत्येक सभासद् उन्हें गहरे मान्य और बड़े प्रेम की दृष्टि से देखता था। सब गृहस्थ इस बात के लिए बड़े इच्छुक रहते थे कि उन्हें अपनी सन्तान को सुशिक्षित बनाना अपने एक बड़े कर्त्तव्य का पालन करना है जिससे उनका यह लोक और परलोक दोनों उत्तम होते हैं।

आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल १, खण्ड १, २ तथा ३ के सूत्रों से ज्ञात होता है कि:—

"शूद्रों (निर्बुद्धियों) तथा दुष्टों के अतिरिक्त शेष सबको यज्ञोपवीत धारण, वेदाध्ययन तथा अग्निहोत्र करने का अधिकार है और यह सब कर्म्म इस लोक और परलोक दोनों में शुभप्रद हैं, ब्राह्मण के पुत्र का यज्ञोपवीत आठवें वर्ष, क्षत्रिय पुत्र का ग्यारहवें वर्ष. तथा वैश्य पुत्र का यज्ञोपवीत बारहवें वर्ष होना चाहिए। यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भसंस्कार करने वाला गुरु ऐसा होना चाहिए जिस के वंश में वेदाध्ययन की रीति चली आती हो और जो स्वयं वेद पढ़ा हुआ हो तथा वेदमार्ग पर चलने वाला हो। "ऐसे गुरु को आचार्य कहते हैं, जिसको सदा प्रसन्न रखना ब्रह्मचारी का धर्म है क्योंकि, उसी

से ब्रह्मचारी को सब कर्त्तव्याकर्त्तव्यों धर्म्माधर्म्मों का बोध होता है। गुरु ब्रह्मचारी को द्वितीय जन्म देता है अर्थात् उसके आत्मा को सुसंस्कृत कर उत्तम बना देता है अतः द्वितीयजन्म सर्वोत्तम है। इसी कारण द्वितीयजन्म देने वाला गुरु उन पिता माता से बढ़कर है जिन्होंने ब्रह्मचारी के शरीर को जन्म दिया है। १६ वर्ष की आयु के पश्चात् ब्राह्मण का, २२ वर्ष की आयु के पश्चात् क्षत्रिय का पुत्र तथा २४ वर्ष की आयु के पश्चात् वैश्य का पुत्र प्रायश्चित्त किए बिना गुरुकुल में प्रविष्ट नहीं हो सकते। सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य्य ४८ वर्षों का है, मध्यम ३६ वर्षों का तथा निकृष्ट २४ वर्षों का ब्रह्मचर्य्य है। बारह वर्ष से न्यून किसी ब्रह्मचारी को पढ़ना नहीं चाहिए (इससे सिद्ध होता है कि निर्बुद्धियों को छोड़कर उस समय के और सब बालक कम से कम बारह वर्ष तक गुरुकुल में निवास कर वेदाध्ययन करते थे), ब्रह्मचारी को उचित है कि वह अपने गुरु की धर्म्मानुकूल आज्ञा पालन करे, उनके बराबर न बैठे, दिन के समय न सोवे, शृंगार के लिये सुगन्धित वस्तुओं का प्रयोग न करे, तैल मर्दन न करे, सदा शीतल जल से स्नान करे, तैरते समय जल क्रीड़ा न करे, चाहे जटाजूट रक्खे चाहे शिखा रखकर शेष बालों को मुँडवा दे, दण्ड रक्खे, बहुत वस्त्र धारण न करे, नृत्य न देखे और न ऐसे उत्सवों में सम्मिलित हो जो विषयानन्द के लिए हों, गोष्ठी और गप शप न करे, स्त्री से केवल इतना ही बोले जितना उसे अपनी (भिक्षादि के लिए) आवश्यक हो, वीर्य्य की रक्षा करे, अपने कर्त्तव्यों के पालन में कभी शिथिलता न करे, इन्द्रियों का दमन करे, लज्जाशील, पुरुषार्थी, क्षमाशील, क्रोध तथा डाह से वर्जित हो, पूर्वाह्न और सन्ध्या के भोजन के लिए दो बार भिक्षा मांगने के लिए जावे, अभिशस्त

तथा अनार्य्यों के स्थान छोड़ अन्य जिस गृह से चाहे भिक्षा मांग लावे। भिक्षा के समय मधुर शब्दों में गृह पत्नी से कहे "भवति! भिक्षां देहि" अथवा "भिक्षां भवति! देहि" अथवा "भिक्षां देहि भवति!" भिक्षा में जो कुछ मिले उसे लाकर गुरु की सेवा में समर्पित करे और कहे "इदम् इत्थम्, आहृतम्" अर्थात् यह इतना मैं लाया हूं, गुरु की अनुपस्थिति में गुरु के किसी सम्बन्धी की सेवा में उस भोजन को समर्पित करे यदि सम्बन्धी न हो तो किसी श्रोत्रिय की सेवा में उस भोजन को समर्पित करे, और याद रक्खे कि भिक्षा का अन्न हविष्यान्न जसा पवित्र है। जिस प्रकार यजमान आहवनीयाग्नि में आहुति डालता है उसी प्रकार शिष्य को चाहिए कि अपने गुरु की जठराग्नि को आहवनीयाग्नि समझे और उसमें आहुति डाल कर अर्थात् भिक्षान्न में से गुरु को खिला कर यज्ञावशेष की भांति पवित्र समझता हुआ शेष भोजन को खावे। यदि गुरु की इच्छा उस समर्पित भोजन में से खाने की न हो तो वह शिष्य से कहे "सौम्य! त्वमेव भुंक्ष्व" सौम्य! तुम ही भोजन करो।"

उक्त भिक्षा के विषय में आजकल विविध प्रकार के विचार उपस्थित किए जाते हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं कि ब्रह्मचारी लोग साधारण भिखारी की तरह भिक्षा मांगते थे वे प्राचीन सामाजिक रचना की विचित्रता एवं ऋषियों के तद्विषयक भाव अभी तक समझ नहीं सके। जहां ब्रह्मचारियों के लिए यह उपदेश है कि वे नम्रता से भिक्षा मांगें वहां गृहस्थियों को यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचारियों को भिक्षा देने में उनका मान है, जहां ब्रह्मचारियों में छोटी अवस्था से ही स्त्रीपूजा और नम्रता के भाव डाले जाते थे वहां गृहस्थियों के लिए शिक्षा होती थी कि आर्य्य-जाति का

प्रत्येक पुत्र सबका पुत्र है उनके आचरणों के लिए जिस प्रकार उनके माता पिता उत्तरदाता हैं उसी प्रकार अन्य लोग भी उत्तरदाता हैं। उस समय के विद्यार्थी धन्य थे क्योंकि प्रत्येक गृहिणी उनकी माता थी, जब भिक्षा के लिए ब्रह्मचारियों के शुभागमन का समय होता था तो प्रत्येक गृहिणी उनकी प्रतीक्षा करने लगती थी और उनके पहुंचते ही बड़े प्रेम से उन के योग्य शुद्ध सात्विक भोजन प्रदान करती थी।"

आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल १, खण्ड ३, सूत्र २६ में जो कुछ लिखा है उसका आशय है कि:—

"जो गृहणी अपने द्वार पर आए हुए ब्रह्मचारी को भिक्षा नहीं देती उसका श्रौत्र यज्ञ, दान, गृहाग्नि में किए हुए हवन के पुण्य नष्ट हो जाते हैं, उनकी सन्तति, उनके गवादि पशु, उनकी विद्या व्यर्थ समझी जाती है अत: किसी भी गृहिणी को उचित नहीं कि वह ब्रह्मचारियों की मण्डली को भिक्षा से विमुख करे।"

जब कि ब्रह्मचारियों को भिक्षा देना इतना आवश्यक बतलाया गया है तो कोई भी पुरुष कैसे कह सकता है कि प्राचीन समय के ब्रह्मचारियों की स्थिति साधारण भिखारियों की-सी थी ? यदि ब्रह्मचारियों (विद्यार्थियों) को प्राचीन समय में तिरस्कृत समझा जाता और इसी कारण उनके लिए भिक्षा की आज्ञा होती तो वासिष्ठ सूत्र अध्याय १३ सूत्र ५९ में यह कभी न लिखा जाता कि यदि स्नातक ब्रह्मचारी और राजा एक ही मार्ग पर आते हुए एक दूसरे के सम्मुख हो जावें तो राजा को चाहिए कि स्नातक के लिये मार्ग छोड़ कर हट जावे (अर्थात् राजा भी स्नातक ब्रह्मचारी को मान्य देवे)।

आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल २, खण्ड ५, ६, ७ तथा ८ से ज्ञात होता है कि:—

"ब्रह्मचारी गण प्रायः अपने गुरु के चरणों को छू कर प्रणाम करते थे, श्रेणी में जब गुरु कोई प्रश्न पूछते थे तो शिष्य प्रायः उठकर उत्तर दिया करते थे, जब गुरु के सम्मुख पाठशाला में विद्यार्थी जाते थे तो उन में से किन्हीं के पग में यदि किसी विशेष कारण से जूता होता था तो उसे वे उतार देते थे (यात्रा के समय जूता वर्जित नहीं था परन्तु विशेष दशाओं के सिवाय जूते का पहनना, छत्र का धारण तथा रथ पर चढ़ना ब्रह्मचारियों के लिए अति निषिद्ध था), श्रेणी में विद्यार्थी यदि अधिक होते थे तो ऐसी रीति से बैठते थे कि पाठ को सब सुन सकें, यदि विशेष मान के योग्य कोई विद्वान् गुरुकुल में आता था तो ब्रह्मचारी गण उस विद्वान् को उसी प्रकार प्रणाम करते थे जिस प्रकार कि वे अपने गुरु को करते थे, गुरु विद्या को वेचना पाप समझते थे, परन्तु शिष्य का यह कर्त्तव्य था कि शिक्षा की समाप्ति पर वह गुरु को दक्षिणा देवे, गुरु और शिष्य का सम्बन्ध मरण-पर्यन्त बना रहता था, गुरुकुल छोड़ने पर भी शिष्य गुरु की सेवा को अपना धर्म्म समझता था, और आवश्यकतानुसार गुरुकुल में उपस्थित हो अपने गुरु की यथोचित सेवा करता था, आलस्य और आमोद के लिये कोई विद्यार्थी वाहन पर नहीं चढ़ सकता था परन्तु आवश्यकतानुसार गुरु की आज्ञा पाकर चढ़ता था, यदि गुरु के साथ वाहन पर चढ़ना होता था तो गुरु के वाहनरूढ हो जाने के पश्चात् विद्यार्थी चढ़ता था।

गुरु के लिए उपदेश था कि वह शिष्य को निज पुत्र की तरह प्यार करता हुआ एवं उस की ओर पूर्ण ध्यान रखता

हुआ निष्कपट भाव से पवित्र विज्ञान (वेद) सम्बन्धी सारी विद्याएं उसे पढ़ा दे और आप जो कुछ जानता हो उसे शिष्य से कभी भी गुप्त न रक्खे, आपत्काल के सिवाय और कभी भी अपने शिष्य से ऐसा काम न लेवे जिससे उसके पाठ में बाधा उपस्थित हो, यदि विद्यार्थी अपराध करे तो गुरु उसे डांट कर ठीक कर ले।

भयभीत करना, उपवास रखना, विशेष ठंडे जल से स्नान कराना तथा अपने सम्मुख आने से (कुछ समय के लिये) रोक देना यह सब दण्ड हैं जो कि अपराध की न्यूनाधिकतानुसार विद्यार्थी को दिये जा सकते हैं।"

गौतम अध्याय २ सूत्र ४२ तथा ४३ में लिखा है कि——

"नियम तो यह होना चाहिए कि विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड न दिया जाय परन्तु यदि अन्य प्रकार से विद्यार्थी न सुधरे तो गुरु उसे पतली रस्सी वा बेंत से दण्ड देवे परन्तु किसी अन्य वस्तु से न मारे, यदि किसी अन्य वस्तु से मारे तो गुरु, राजा दण्ड का भागी समझा जावे।"

आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल ३, खण्ड ९, १०, ११ तथा गौतम सूत्र अध्याय १६ तथा वशिष्ठ सूत्र अध्याय १३ से ज्ञात होता है कि निम्नलिखित अवसरों पर पाठ बन्द रहता था:——

"(१) जब कोई श्रोत्रिय वा अन्य विशेष प्रतिष्ठित पुरुष पाठशाला में आता था।

(२) जब गुरु मर जाते थे।

(३) जिस दिन अधिक वर्षा होती थी अथवा बारम्बार देर तक बिजली चमकती वा मेघ गर्जन होता था अथवा प्रचण्ड पवन चलता था अथवा भूकम्प आता था।

(४) जिस दिन देश का राजा मर जाता था।

(५) जब विशेष अध्यापक छुट्टी पर जाते थे (उस समय केवल उस विषय का पाठ बन्द रहता था जिसे उक्त अध्यापक पढ़ाते थे।

(३) जब किसी निकट स्थान पर आग लगती थी अथवा किसी समीपवर्त्ती स्थान पर आक्रमण होता था (इसलिए कि ब्रह्मचारी गण दुखियों की सहायता करें)।

पढ़ने के समय चित्त की अवस्था स्वस्थ होनी चाहिए अतः निम्नलिखित स्थानों वा अवस्थाओं में जब कि चित्त में हलचल वा स्तब्धता अर्थात् अकार्य्यपरायणता होनी सम्भव है पाठ वर्जित रहता था:—

(१) जब ब्रह्मचारी सड़क पर चलता हो।
(२) जब ब्रह्मचारी श्मशान भूमि में हो।
(३) ऐसे स्थान पर जहां मुर्दा पड़ा हो।
(४) जब ब्रह्मचारी पशु पर सवार हो।
(५) जब ब्रह्मचारी के पेट में अजीर्ण हो।
(६) जब ब्रह्मचारी वमन कर चुका हो।
(७) जब ब्रह्मचारी नौका पर सवार हो।
(८) जब ब्रह्मचारी लेटा हुआ हो अर्थात् शिथिलावस्था में हो।

अध्यापक के लिये आज्ञा थी कि वह श्रेणी को कमरे में पढ़ावे और उस के द्वार खोल रक्खे (बन्द न रक्खे) अध्यापक यदि वृक्ष पर बैठा हो वा स्नान कर रहा हो वा शरीर में तैल मर्दन करता हो तो (ऐसे समयों में) पढ़ाना बन्द रक्खे।"

और भी पाठ कब २ बन्द होना चाहिये, इसका निर्णय वैदिक शालाओं (गुरुकुलों) की शिक्षा (प्रणाली) तथा उनकी कार्य्य-विधि से करना चाहिये (आपस्तम्ब १,३,११,३८,)।

प्राचीन काल में अनधिकारी और कुपात्र को विद्यादान देना पाप समझा जाता था। यह बात अलंकार रूप से यांशिल्क सूत्र में इस प्रकार बतलाई है:—

"एकवार विद्या ब्राह्मण के पास आई और उससे कहने लगी मैं तेरा कोष हूं तू मेरी रक्षा कर, ऐसे मनुष्य के पास पुत्र मत भेज जो मेरा हास्य करे अथवा जो दुष्ट हो अथवा जो इन्द्रियों का दास हो, सुरक्षित रखने से मैं बलिष्ठ हो जाऊंगी, ऐ ब्राह्मण ! तू मेरी रक्षा उसी प्रकार कर जैसे तू अपनी निधि की करता है, केवल उसे मुझे दान कर जो पवित्र, घ्यानावस्थित, शुद्ध, बुद्धियुक्त और ब्रह्मचर्य्य-व्रत धारण किये हो और जो कभी तेरा अपमान करने वाला न हो।"

आपस्तम्ब सूत्र अध्याय १, पटल १, खण्ड २, सूत्र १९ से ज्ञात होता है कि—

गुरु की आज्ञा ब्रह्मचारी को सदा शिरोधार्य करनी पड़ती थी परन्तु उस आज्ञा का मानना उसके लिए आवश्यक न था जो धर्म्म विरुद्ध हो।

आजकल इङ्गलैंड में यह विचार हो रहा है कि जिन विद्यार्थियों को पूरा भोजन नहीं मिलता वे पढ़ नहीं सकते अतः प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों को (यदि पर्याप्त भोजन उनके घर न मिल सकता हो तो) राजा की ओर से भोजन मिलना चाहिए। पर यह विचार नया नहीं है।

बौधायन सूत्र में लिखा है कि—

अग्नि होत्री, लादू बैल और ब्रह्मचारी अपना काम (ठीक ठीक) तभी कर सकते हैं जब कि पूर्णान्न खावें। भोजन को एक प्रकार का यज्ञ बतलाया गया है और उस ब्रह्मचारी को अपराधी समझा गया है जो भूखा रहता हो।

जो ब्रह्मचारी अपनी पढ़ाई को समाप्त कर लेते थे उन्हें स्नातक पदवी से विभूषित किया जाता था। इस पदवी प्रदान के पूर्व गुरुकुल में उन ब्रह्मचारियों का संस्कार होता था जिसे समावर्तन संस्कार कहते हैं। आजकल ग्रैजुएटों को डिप्लोमा प्रदान के समय कनवोकेशन का जो अधिवेशन होता है वह उक्त समावर्तन संस्कार का एक भाग समझा जा सकता है। उस समय स्नातक बनने वाले ब्रह्मचारियों को संस्कार में उपस्थित विद्वन्मण्डली के समक्ष आचार्य्य उत्तमोत्तम उपदेश देता था जिनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं:——

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति:—"सत्यं वद, धर्मंचर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः, सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्, कुशलान्न, प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, मातृदेवो-भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि, ये केचास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्, श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम् भिया देयम् संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामः स्युः यथा ते तेषु वर्त्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः। एष आदेशः एष उपदेशः एषा वेदोपनिषत्, एतदनुशासनम् एवमुपासितव्यम् एवमु चैत-द्दुपास्यम्"। (तैत्तिरीयोपनिषत्, शिक्षाध्याय, एकादशोऽनुवाक)।

अर्थात् (अपने निकट बसे हुए ब्रह्मचारी को आचार्य्य वेद पढ़ाकर पुनः वा अन्त में यह शिक्षा देता है) सदा सत्य बोला करो, धर्म्म ही का आचरण करो,स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्म विचार वा ब्रह्मोपासना में अथवा वेदों के ब्रह्म विद्यादि विषय जो कुछ पढ़ चुके हो उसको बारम्बार पुनरावृत्ति करने में वा दोहराते रहने में आलस्य न करो, आचार्य्य के लिए प्रिय धन लाकर अर्थात् गुरु दक्षिणा देकर ऐसा करो जिस में प्रजा वृद्धि का सिलसिला तुम से न टूटे अर्थात् विवाह करके सन्तानोत्पन्न करो, (उस गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी) तुम्हें सत्य के पालन में आलस्य नहीं करना चाहिए, धर्म्म के धारण में आलस्य नहीं करना चाहिए, जो कुशल कर्म हैं अर्थात् जिनसे तुम्हारा तथा अन्यों का कल्याण होवे ऐसे कर्मों के करने में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए, जिन कर्म्मों से तुम्हारे वा अन्यों के धनादि ऐश्वर्य बढ़े उन्हें करने में आलस्य नहीं करना चाहिए, विद्वानोंके स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्मविचार वा ब्रह्मोपासनामें वा वेद विषयक आत्मिक तथा प्राकृतिक विचारमें तथा प्रवचन उन्हींवेदों के पढ़ाने में वा बड़ी बड़ी वक्तृताओं द्वारा उनके आशय अर्थात् आत्मिक और प्राकृतिक विज्ञानों को हृदयङ्गम कराने में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए, वेद अर्थात् धार्मिक विद्वानों और पितर अर्थात् वृद्ध ज्ञानी महात्माओं की सेवादि कार्यों में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए, माता को देवता मानने वाले होवो, पिता को देवता मानने वाले होवो, आचार्य को देवता मानने वाले होवो, अतिथि को देवता मानने वाले होवो, जो आनन्दित कर्म हैं उन्हीं का सेवन तुम्हें करना चाहिए अन्य अर्थात् निन्दित का नहीं,हमारे भी जो उत्तम आचारण हैं उन्हीं को ग्रहण करना तुम्हें उचित है, उनसे भिन्न जो हमारे दुष्कर्म

हों उनका अनुकरण तुम्हें कभी भी करना नहीं चाहिए। हमसे इतर जो कोई अन्य वेदों के जानने वाले धार्मिक पुरुष ब्राह्मण हैं उनको भी आसनादि सत्कारों से सेवन करके सुखी करना तुम्हें उचित है एवं उनके निकट बैठना और उनमें विश्वास करना तुम्हें उचित है, (यथासम्भव दान में संकोच न करना) श्रद्धा सहित दान देना चाहिए (अर्थात् जिन महात्माओं में तुम्हारी श्रद्धा हो उन्हें दान दो वा जिन शुभ-कर्म्मों में तुम्हारी श्रद्धा हो उनकी पूर्ति के लिए दान दो) अश्रद्धा से भी दान देना चाहिए, श्री अर्थात प्रतिष्ठा वा शोभा के विचारों से भी दान देना चाहिए, ह्री अर्थात् लोक लज्जा के विचार से भी दान देना चाहिये (अर्थात् ऐसा न हो कि सर्वथा दान देने से वा अत्यल्प दान देने से लोग तुम्हें कृपण कहने लगें) भय से भी दान देना चाहिए (अर्थात् कदाचित् तुम से अनेक प्राणियों की हानि के बदले लाभ पहुँच जाय जिसका भावी फल कष्ट होगा तो उस कष्ट के भय से प्राणियों को हानि के बदले लाभ पहुंचाने के लिए तुम्हें दान देना चाहिए) अन्य दुःखी मनुष्यों की आवश्यकता जानकर जब तुम्हें दुःख हो तो उन प्राणियों की दुःख निवृत्ति के लिये एवं अपने दुःख निवृत्ति के लिए भी दान देना चाहिए। (वा प्रतिज्ञा से भी दान देना चाहिए)। यदि तुम्हें किन्हीं कर्म्मों के उत्तम वा अनुत्तम होने के विषय में सन्देह हो किन्हीं विचारों वा भावों के धार्मिक या अधार्मिक वा उचित वा अनुचित होने के विषय में सन्देह हो (अर्थात् कर्म्म, उपासना और ज्ञान विषयक सन्देह उपस्थित होने पर, उस अवस्था में जो वेदवेत्ता पुरुष, विचारशील हों, चाहे वे युक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में लगे हुए हों, (वा जो युक्त अर्थात् योगी हों) अथवा अयुक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में

न लगे हुए विरक्त संन्यासी हों, (वा जो अयुक्त अर्थात् पूर्ण योगी न भी हों) जो क्रोधादि दोषों से रहित हों, जिनकी एक मात्र इच्छा धर्म्म की वृद्धि के लिए ही हो (उनके आचरणों को देखो) जिस विषय में तुम्हें सन्देह पड़ गया है उस विषय में उक्त महात्माजन जिस प्रकार वर्ताव वा आचरण करो, जो अभ्याख्यात अर्थात् परम प्रसिद्ध ब्रह्मर्षि,राजर्षि वा धर्म्मपरायण सम्राट्गण हो गए हैं उनके इतिहासों, चरित्रों वा कर्म्मों वा उपदेशों के विषय में यदि तुम्हें किसी प्रकार की शंका हो जाय तो उस विषय में तुम्हारे समय में जो वेदवेत्ता विचारशील पुरुष हों चाहे वे युक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में लगे हुए हों अथवा अयुक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में न लगे हुए विरक्त सन्यासी हों, जो क्रोधादि दोषों से रहित हों, जिनकी एकमात्र इच्छा धर्म की वृद्धि के लिए हो उनके बर्तावों को देखो उस विषय में उक्त महात्माजन जिस प्रकार बर्ताव करते हों अर्थात् जसा मानते, कहते वा करते हों तुम भी वैसा ही बर्ताव करो अर्थात् वैसा ही मानो, कहो और करो। यह जो "सत्यं वद" आदि हम कह आए हैं यही तुम्हारे लिए मेरा आदेश है, यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है, यही वैदिक धर्म्म का मर्म है, यही मेरा फिर भी तुम्हारे लिए आज्ञा है, इसी प्रकार बर्तते हुए धर्मानुष्ठान वा परमात्मा की उपासना करनी चाहिए, निश्चय कर इसी प्रकार उक्त परमात्मा उपासनीय है।

उक्त एकादश अनुवाक में जो "वेदमनूच्य" शब्द आता है उसका अर्थ है वेदों को पढ़ाकर और जो "अनुशास्ति" शब्द आता है उसका अर्थ है पीछे से शिक्षा करता है। अतः स्पष्ट है कि उक्त शिक्षा वेदों के अध्ययन को समाप्त किए हुए एवं ब्रह्मचर्य्याश्रम को पूर्ण किए स्नातक ब्रह्मचारी के लिए है।

हम बड़े बल और पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते है कि मनुष्य जाति की सभ्यता के इतिहास में इस से अधिक सुन्दर और उपयोगी उपदेश कभी किसी युनिवर्सिटी के ग्रेजुएटों को नहीं दिया गया।

इस संक्षिप्त किन्तु प्रभावशाली उपदेश में स्नातकों को बतला दिया जाता था कि वास्तव में स्वाध्याय से ही मनुष्य पूर्ण विद्वान् बनता है और स्नातक होने पर शिक्षा की समाप्ति नहीं होती प्रत्युत गूढ़ अन्वेषण का आरम्भ होता है, उन्हें यह भी बतला दिया जाता था कि स्नातकों से यह आशा की जाती है कि स्वाध्याय के बल से वह ब्रह्म, जीव और प्रकृति के गुणों को भली भांति समझेंगे और अपने आत्मिक विचार वा उपदेशों से लोगों को आत्मिक शान्ति और प्राकृतिक अन्वेषणों से मनुष्य जाति की श्रीवृद्धि के उपायों को बतलायेंगे परन्तु यह सब करते हुए भी सन्तान पालन, अतिथि सत्कारादि जो गृहस्थियों के दैनिक-कर्म हैं उन पर भी पूरा ध्यान रक्खेंगे।

कन्याओं का यज्ञोपवीत और ब्रह्मचर्य—जिन ऋषियों ने वेद की आज्ञा "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" (अर्थात् ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कन्या युवा पति को प्राप्त करे) को शिरोधार्य कर लिया था उन्होंने समाज के बीच घोषणा कर दी थी कि पुत्रों की तरह कन्याओं को भी ब्रह्मचर्य धारण करने का पूरा अधिकार है। एवं प्राचीन आर्यों की वही कन्याएं विवाह योग्य मानी जाती थीं जिनका ब्रह्मचर्य व्रत पूर्ण हो गया हो। आश्वलायन श्रौतसूत्र में स्पष्टलिखा है :—

"समानं ब्रह्मचर्य्यम्"

अर्थात् (पुत्र और पुत्री) दोनों का ब्रह्मचर्य धारण करने में समानाधिकार है। गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है:—

"प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत सोमो ददद् गन्धर्वायेति"

अर्थात् जो कन्या वस्त्रादि से आच्छादित यज्ञोपवीत धारण की हुई हो उसे (विवाह मण्डप में) लावे और "सोमो" ददद् गन्धर्वाय" इस वेदमन्त्र को पढ़े। इस सूत्र से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने के समय कन्याओं का भी यज्ञोपवीत हुआ करता था। ऐसा न होता तो विवाह मण्डप में जानेवाली कन्या "यज्ञोपवीतिनी" कैसे कहलाती ?

पारस्कर गृह्यसूत्र में लिखा है :—

स्त्रिय उपनीता अनुपनीतांश्च

अर्थात् स्त्री यज्ञोपवीतिनी तथा बिना जनेऊ धारण किये हुए भी हो।

इससे बोध होता है कि पारस्कर के समय स्त्री शिक्षा का प्रचार कुछ कम हो गया था। वेद मन्त्र की जो शिक्षा थी कि "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" उसका अनुसरण ढीला हो गया था। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के समय यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक समझा जाता था अतः जो स्त्री "अनुपनीता" अर्थात् बिना जनेऊ वाली होती होगी वह विधिवत् ब्रह्मचर्य धारण न करने के कारण विद्यावती भी कम ही होती होगा।

❀ ओ३म् ❀

गृहस्थाश्रम।

गुरुकुल निवास को समाप्त कर कोई २ ब्रह्मचारी यथा नचिकेतादि विशेष प्रज्ञाशील होने के कारण जिन की प्रज्ञा ऋतम्भरा हो जाती थी ब्रह्मप्राप्ति के लिए तथा सब के लिये पितृवत् भाव रखते हुए, विशेष पुत्र की आकांक्षा न कर अपने सदुपदेशों द्वारा सबको धर्म्ममार्ग में चलाने की इच्छा से एवं क्रमशः सबको परमात्मा की प्राप्ति के योग्य बनाने की अभिलाषा से विरज अर्थात् विरक्त परिव्राजक एवं विमृत्यु अर्थात् मृत्यु-भय से रहित हो जाते थे जिन को सम्पूर्ण प्रजा महती पूज्य दृष्टिसे देखती थी। उसी प्रकार कोई२ ब्रह्मचारिणी यथा ऋग्वेद के अष्टम मण्डल अनुवाक नवम सूक्त ९१ की प्रचारिका अपालात्रेयी आदि ब्रह्मचर्याश्रमसे ही प्रचारिका बन जाती थी। इनको भी प्रजा बड़े मानकी दृष्टि से देखतीथी परन्तु अधिकतर ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार को समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के विचार से सम गुण-कर्म्म-स्वभाव वाली ब्रह्मचारिणी से विवाह करने के लिए यत्न करने लगते थे और तद्वत् ब्रह्मचारिणी कन्याएं भी विवाह की इच्छा करने लगती थीं।

विवाह——विकास सिद्धान्त के मानने वाले योरोपीय कहते हैं कि एक समय ऐसा था जबकि विवाह की प्रथा न थी। जब विवाह की रीति प्रचलित हुई तो पहले पहल निकट

सम्बन्धियों में ही विवाहारम्भ हुआ। इतिहास के ग्रन्थ में हम इस विषय पर विचार नहीं कर सकते कि वर्तमान सृष्टि की आदि में जैसा कि वैदिक मतानुयायी कहते हैं सैंकड़ों वा सहस्रों नर नारी पैदा हुए और साथ ही उस समय उत्पन्न हुए पवित्र ऋषियों के हृदय में परमात्मा की ओर से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ जिस कारण ज्ञान का स्रोत भी वर्तमान सृष्टि के आरम्भ से ही चल निकला, किस प्रकार ठीक है अथवा जैसा कि अनेक अन्यान्य मतानुयायी कहते हैं कि सृष्टि की आदि में नर नारी का एक ही जोड़ा पैदा हुआ, किस प्रकार भ्रान्त है, अथवा इस विषय के अन्यान्यों के अन्य कथन किस प्रकार अप्रामाणिक हैं। परन्तु इस विषय पर जब हम ऐतिहासिक दृष्टि डालते हैं तो पता लगता है कि आर्य्यों की ऐतिहासिक घटनाएं जो वास्तव में अन्यान्य सभी ऐतिहासिक घटनाओं से प्राचीन हैं, विकास सिद्धान्त के मानने वाले योरोपियनों के विवाह विषयक सिद्धांत का पोषण नहीं करतीं। आर्य्यों के यहाँ किसी भी ऐसे समय का पता नहीं लगता जबकि उनके यहां विवाहकी प्रथा प्रचरित न थी।

आर्यों का एक अति प्राचीन पुस्तक ऐतरेय ब्राह्मण है। उस की सप्तम पञ्जिका के तृतीयाध्याय के प्रथम खण्ड में विवाह की उत्तमता तथा पुत्र होने के लाभों को बतलाया गया है। वहां लिखा है :—

"हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाकोराजाऽपुत्र आस　　　स ह नारदं पप्रच्छ　···किंस्वित्पुत्रेण विन्दते तन्मा आचक्ष्व नारदेति। स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच ऋणमस्मिन्त्सन्नयत्यमृतत्वञ्च गच्छति पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखं, यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि, यावन्तो अप्सु

प्राणिनां भूयान् पुत्रः पितुस्ततः, शश्वत् पुत्रेण पितरोऽत्यायन् बहुलं तमः । आत्माहि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी··· अन्नं ह प्राणः शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः सखा ह जाया····· ज्योतिर्ह पुत्रः·····पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा ·· नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति······"

अर्थात् महाराज "इक्ष्वाकु" के वंशज महाराज "वेधस" के पुत्र हरिश्चन्द्र नाम राजा पुत्र विहीन थे (पुत्र न रहने के कारण चिन्तित होकर) राजा हरिश्चन्द्र ने ऋषि नारद से पूछा (कि हे भगवन् !) पुत्र होने से (पिता) किन २ फलों को प्राप्त करता है कृपया उन्हें मुझे बतलाइये ।

नारद ने इस एक प्रश्न का उत्तर दश प्रकार से दिया । नारद ने कहा (हे राजन्) यदि उत्पन्न हुए, जीते हुए (अर्थात् प्रौढ़ावस्था को प्राप्त) पुत्र का मुख पिता देखता है तो उस पुत्र में, अपने धारण किए हुए (लौकिक तथा वैदिक) ऋणों को पिता स्थापित कर देता है और (स्वयं निश्चिन्त हो तत्वज्ञान के सम्पादन में लग कर) मुक्ति पद को प्राप्त करता है ।

जितने पृथिवी से (गृहादि निवासादि वा अन्नोत्पत्त्यादि वा गन्धादि सम्बन्धी भोग) मिल सकते हैं, जितने जातवेदस् वा अग्नि से (शीत निवारण, पाचन, प्रकाशादि सम्बन्धी) भोग मिल सकते हैं, जितने अप अर्थात् जल से (रस पान स्नानादि सम्बन्धी) भोग मिल सिकते हैं इन सब से अधिक सुख पिता का पुत्र में रक्खा हुआ है ।

(सदा ऐसा होता है कि) पुत्र के उत्पन्न होने से पिता बहुत से अन्धकारों वा दुःखों से पार हो जाता है, पिता पुत्र रूप में उत्पन्न हो जाता है इसी कारण जिस प्रकार तरणी (मनुष्य को समुद्र से) पार ले जाती है उसी प्रकार पुत्र (दुःख

से) पिता को पार उतारता है।

प्राण अन्न के समान (सुखदायी है) गृह, शरण (किसीकी शरण वा रक्षामेंजिस प्रकार मनुष्य हो) के समान (सुखदायी है) सुवर्ण, सुन्दर रूप के समान (सुखदायी है) विवाह, अपने दुग्धादि से सुख देने वाली गवादि पशुओं की तरह (सुखदायी है)।

स्त्री मित्र स्वरूपिणी है अर्थात् सच्चे मित्र की तरह सुख देने वाली है। पुत्र प्रकाश की तरह चांदना कर के सुख देने वाला है। पति गर्भ रूप से अपनी स्त्री में प्रवेश करता है। जिसके पुत्र नहीं है उस का सांसारिक सुख भी नहीं की तरह का फीका है

इसी प्रकार सूत्र ग्रंथों में भी विवाहित स्त्री पुरुष के आश्रम अर्थात् गृहस्थाश्रम की महिमा गाई गई है। यथा:—

जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियां समुद्र में जा कर विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थियों से रक्षा पाते हैं, जिस प्रकार सब बच्चे अपनी माता का रक्षा करने से ही रक्षित रहते हैं उसी प्रकार सब भिक्षुक (संन्यासी) भी गृहस्थियों के रक्षा दान से ही जीते रहते हैं।

(वाशिष्ठ अ० ८, सूत्र १५ तथा १६)

गृहस्थाश्रम ही ब्रह्मचर्य्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम, तथा संन्यासाश्रम का जनक है क्योंकि गृहस्थाश्रमियों से भिन्न अन्याश्रमी सन्तानोत्पन्न नहीं करते (गौतम, अध्याय ३, सूत्र ३)

जिस गृहस्थाश्रम की महिमा इतनी गाई गई है उस में निश्चय है कि ब्रह्मचारी गण प्रसन्नता पूर्वक प्रवेश करते होंगे।

ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश की विधि सूत्र ग्रंथों में इस प्रकार लिखी है:—

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व ब्रह्मचारी को चाहिये कि अभिमान और क्रोध रहित हो कर गुरु की आज्ञा से स्नान करे तदनन्तर अपने वर्ण की उस कन्या से जो अपने गोत्र की न हो, जो अपने प्रवर की न हो, जिस ने किसी पुरुष से प्रसंग न किया हो, विवाह करे। उक्त कन्या को पति की माता की चार पीढ़ियों से दूर तथा पिता की छः पीढ़ियों से दूर भी होना आवश्यक है।

(वाशिष्ठ सूत्र, अध्याय ८, सूत्र १ तथा २)

पिता को चाहिये कि अपनी पुत्री को ऐसे वर को न दे जो उसके गोत्र का हो तथा जो उस के पिता वा माता की छः पीढ़ियों के भीतर हो। (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल, ५, खण्ड ११, सूत्र १५ तथा १६)

उक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि जैसा कि महर्षि यास्क ने लिखा है "दुहिता दुर्हिता दूरे हिता" अर्थात् दुहिता का विवाह दूर दूर कुलों वा दूर दूर स्थानों में ही होना हितकारक है, सूत्रग्रन्थों के समय में भी प्रवृत्त था।

योरोप में बहुत दिनों से निकट सम्बन्धियों में भी विवाह की प्रथा चली आ रही है परन्तु हर्ष का विषय है कि विवाह सम्बन्धी आर्ष-नियमों को योरोप के बड़े बड़े विद्वान् अब कुछ २ समझने लगे हैं। योरोपीय कई डाक्टरों ने अब मुक्त-कण्ठ से कह दिया है कि निकट कुलों में विवाह न करो, निकट कुलों में विवाह होता रहेगा तो तीक्ष्ण बुद्धि के बालकों का उत्पन्न होना बन्द हो जायगा।

जिस प्रकार गुरुकुल निवास को समाप्त कर ब्रह्मचारी

विवाह के विचार से किसी सम-गुण कर्म स्वभाव वाली ब्रह्म-चारिणी का अनुसन्धान करता था उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी भी गुरुकुल निवास को समाप्त कर अपने योग्य पति को वरने की चिन्ता करने लगती थी। और कन्या को स्वयम्वर अर्थात् अपने योग्य पति के वरने का अधिकार था। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय के पश्चात् के तो अनेक सुप्रसिद्ध स्वयम्वरों की कथा सुनने में आती ही हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ भी स्वयम्वर की चर्चा से शून्य नहीं हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की चतुर्थ पञ्जिका के द्वितीयाध्याय के प्रथम खण्ड में लिखा है:—

"प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत्सूर्यां सावित्रीं तस्यै सर्वे देवा वरा आगच्छन्............"

अर्थात् प्रजापति नाम पुरुष की कन्या सूर्या सावित्री थी, उसे शान्त स्वरूप सर्व्वोत्तम गुणों से प्रकाशित पुरुष के लिए विवाहार्थ देने की इच्छा जब प्रजापति ने प्रगट की तो (उस समय के) सब बड़े २ विद्वान् विवाहेच्छा से प्रजापति के समीप आए।

आगे लिखा है कि उक्त विद्वानों की मण्डली में प्रजापति ने अपनी प्रतिज्ञा को कह सुनाया कि जो विद्वान् अमुक २ गुण सम्पन्न होगा उसे हमारी कन्या वरेगी इत्यादि जिस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रजापति ने सूर्य्या सावित्री के लिये स्वयम्वर का अधिकार दिया था।

गौतम सूत्र अध्याय १८, सूत्र २० में लिखा है कि ब्रह्म-चारिणी कन्या को उचित है कि (जब वह विवाह के योग्य हो जावे तो) तीन मासों को व्यतीत हो जाने दे और तदनन्तर स्वेच्छा से किसी दोषरहित पुरुष को (जिसे वह पसन्द करे) वर ले परन्तु (पति गृह में जाने के पूर्व) उन सब आभूषणों को

जो उस ने अपने पिता व अन्य सम्बन्धियों से प्राप्त किये हों उन्हें वापिस दे दे।

बौधायनसूत्र प्रश्न १ अध्याय ११, खण्ड २०, तथा आपस्तम्बसूत्र प्रश्न २, पटल ५, खण्ड ११, तथा गौतमसूत्र अध्याय ४, के देखने से ज्ञात होता है कि सूत्रग्रन्थों के समय आठ प्रकार के विवाह प्रचरित थे जिन के नाम ये हैं:—"ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर राक्षस और पैशाच"। इन सब प्रकारों में ब्राह्म विवाह सर्वोपरि समझा जाता था।

बौधायनसूत्र प्रश्न १, अध्याय ११, खण्ड २०, सूत्र २ में लिखा है :—

"यदि पिता अपनी कन्या को विवाहार्थ उस ब्रह्मचारी को देता है जिसकी विद्या और सदाचार के विषय में उसने पूरी जांच करली है तथा जो ब्रह्मचारी उस कन्या से विवाह करने के लिए प्रार्थी हो चुका है तो ऐसे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी के विवाह को ब्राह्म विवाह कहते हैं"।

प्राजापत्य उसे कहते थे जिस में विवाह समय कन्या को भूषणों सहित पिता वर को देता था, आर्ष उसे जिस में कन्या के तपस्वी पिता को यज्ञार्थ एक वृषभ और गाय देकर ब्रह्मचारी कन्या से विवाह करता था, दैव उसे जिस में यज्ञ कराने वाले स्नातक ब्रह्मचारी को यज्ञ कराते समय यजमान दक्षिणा सहित अपनी कन्या को विवाहार्थ देता था। ये तीन प्रकार भी उत्तम ही समझे जाते थे। गान्धर्व विवाह को कोई उत्तम और कोई निकृष्ट कहता था। परन्तु असुर, राक्षस और पैशाच विवाह सदा घृणित समझे जाते थे क्योंकि इन विवाहों को प्रवृत्त कराने वाली पुरुषों की कुवृत्तियां होती थीं। क्योंकि ये तीनों प्रकार के विवाह कन्याओं की अनिच्छा तथा उन की

असहाय दशा के सूचक थे और इन विवाहों से भी सन्तानोत्पत्ति होती ही थी इस कारण धर्मव्यवस्थापकों ने यह समझ कर कि पुरुषों के अत्याचार से निरपराध कन्याओं तथा उन के निरपराध सन्तानों के अधिकार नष्ट न होवें इन आसुर, राक्षस और पैशाच रीतियों से हुए सम्बन्धों को भी विवाह ही ठहरा दिया अर्थात् इन विवाहों को धर्म-युक्त न मानते हुए भी इन्हें राजव्यवस्था के अन्तरङ्ग डाल दिया।

सूत्रग्रन्थों के समय द्रव्य लेकर कन्या को विवाहार्थ किसी पुरुष को देना अत्यन्त ही नीचकर्म समझा जाता था। यथा :—

वह दुष्ट पुरुष जो लोभ में आकर और द्रव्य लेकर अपनी कन्या को विवाहार्थ दे देता है, अपने को बेच डालता है और घोर पाप का भागी बनता है, घोर नरक में गिरता है और आने वाली सात पीढ़ी तक अपने वंश को कलंकित कर देता है, इसके अतिरिक्त उसे बारम्बार जन्म मरण (का क्लेश) भोगना पड़ता है। यह सब इसी कारण कि वह द्रव्य लेता है।

(बौधायन प्रश्न १, अध्याय ११, कण्डिका २१, सूत्र ३)

जो कन्या द्रव्य लेकर (विवाहार्थ) मोल लाई जाती है वह पत्नी नहीं बन सकती, वह देवयज्ञ में पति का साथ नहीं दे सकती, काश्यप की सम्मति है कि ऐसी स्त्री दासी (तुल्य) है (बौधायन प्रश्न १, अध्याय ११, कण्डिका २१, सूत्र २)

ब्राह्मण ग्रन्थों के देखने से बोध होता है कि विषय भोग की लालसा से नहीं प्रत्युत गृहस्थाश्रम धर्म को सुरीत्या सम्पादन करने के लिये स्नातक और स्नातका का विवाह होता था।

ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से हम दिखला आए हैं कि राजा हरिश्चन्द्र को अपुत्र होने के कारण कितनी चिन्ता थी। नारद ने जोवहां यह बतलाया है कि प्रौढ़ पुत्र में पिता अपने वैदिक

श्रौर लौकिक सब ऋणों को स्थापित कर निर्द्वन्द्व हो मोक्ष-साधन में तत्पर हो सकता है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋषियों के मतानुसार विवाह वैदिक तथा लौकिक ऋणों से उऋण होने के लिए ही किया जाता है। यही उच्चभाव था जिस कारण श्रार्य्यपुरुष श्रौर श्रार्य्यनारी का विवाह सांसारिक कल्याण का साधन बनता था। स्त्री को श्रनेक स्थानों में पुरुष की श्रर्द्धांगिनी बतलाया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है कि पुरुष स्त्री यदि दोनों जीते हों तो पुरुष स्त्री की सहायता के विना श्रग्निहोत्र नहीं कर सकता। ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पञ्जिका के द्वितीयाध्याय के नवम खण्ड में यह प्रश्न उठाया गया है कि—"तदाहुर्वा चापत्नीकोऽग्निहोत्रं कथमेव जुहोति" जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो अर्थात् जो श्रपत्नीक हो वह श्रग्निहोत्र करे वा न करे श्रौर करे तो किस प्रकार? इसका उत्तर श्रनेक प्रकार से दिया हुआ है। श्रन्त में लिखा है कि "श्रद्धा पत्नी, सत्यं यजमानः" इत्यादि,, श्रपत्नीक पुरुष श्रपनी श्रद्धा को ही स्त्री मान ले श्रौर श्रपने को सत्य स्वरूप समझे श्रौर इस प्रकार श्रद्धा श्रौर सत्य मिलकर मानस यज्ञ करें इत्यादि। इन प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गृहस्थ धर्मों के सम्पादनार्थ पति के लिए पत्नी श्रौर पत्नी के लिये पति कितना उपयोगी माना जाता था।

सूत्र ग्रन्थों में भी विवाह सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे ज्ञात होता है कि विविध यज्ञों की पूर्ति के लिये ही विवाह होता था श्रौर गृहस्थाश्रम सम्बन्धी सब धर्म्म कार्य्यों में पति पत्नी पर श्रौर पत्नी पति पर निर्भर रहती थी। यथा:—

वह धर्म्मपत्नी जो श्रग्निहोत्र में पति का साथ देती है वह उन सब धार्मिक कार्य्यों में भी पति की सहवर्त्तिनी मानी जाती

है जिन धर्म्म कार्य्यों का जो कि अग्निहोत्र एक भाग मात्र है (आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ५, खण्ड ११ सू० १४)।

धर्म कार्यों के सम्पादन में पत्नी स्वतन्त्र नहीं है, अर्थात् जो धर्म कार्य पत्नी करे वह पति के साथ करे।

(गौतम अध्याय १८, सू० १)

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी जब विवाह के लिए वर वधू बनते थे और उनका विवाह संस्कार होने लगता था तो उपस्थित सभा के बीच उन्हें परस्पर अनेक प्रतिज्ञाएं करनी पड़ती थीं जिन प्रतिज्ञाओं में से कतिपय निम्नलिखित हैं:—

"हे वरानने ! मैं ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ। मुझ पति के साथ जरावस्था को प्राप्त होकर भी सुख पूर्वक निवास कर।

हे वीर ? मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिए आपके हस्त को ग्रहण करती हूँ आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिए। आपको मैं और मुझको आप आज से पति पत्नी भाव करके प्राप्त हुए हैं। सकल ऐश्वर्ययुक्त, न्यायकारी, सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता, बहुत प्रकार जगत् का धर्ता परमात्मा और ये सब सभा-मण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग गृहस्थाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिए तुझको मुझे देते हैं आज से मैं आपके हस्ते और आप मेरे हस्ते बिक चुके हैं कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण नहीं करेंगे।

हे अनघे ? धर्म्म युक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे हाथ को ज्ञान पूर्वक ग्रहण कर चुका हूँ जिस जगत् पति परमात्मा ने तुझको मुझे दिया है उसकी कृपा से सौ वर्ष पर्यन्त तू सुखपूर्वक मुझ पति के साथ जीवन धारण कर।

हे भद्रवीर ? परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो

मेरे लिए आपके सिवाय इस जगत् में दूसरा पति नहीं है न मैं आप से अन्य दूसरे को मानूंगी, मैं प्रेम द्वारा आपको प्राप्त होती हूं, ज्ञानपूर्वक आपको ग्रहण करती हूँ, आपका हृदय, आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण धर्म में धारण करती हूँ, मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे आप एकाग्र हो के मेरी वाणी का जो कुछ मैं आपसे कहूँ उसका सेवन सदा किया कीजिए क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आपको मेरे आधीन किया है इत्यादि—"

इसके विरुद्ध योरोप में स्त्री पुरुष का सम्बन्ध आर्योचित उच्चोद्देश्यों के साथ नहीं होता जिस कारण वहुत से विवाह बन्धन विच्छेद हो जाते हैं।

सूत्रग्रन्थों में कई जगह लिखा है कि स्त्री स्वतन्त्र नहीं प्रत्युत वह पुरुष के आधीन है यथा:—

(स्त्री की रक्षा) उसका पिता उसकी बाल्यावस्था में करता है, युवावस्था में पति रक्षा करता है वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है, स्त्री कभी भी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है।

(वासिष्ठ, अध्याय ५, सूत्र २)

परन्तु वह आधीनता किस प्रकार की है इसे समझने के लिए निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए।

उसी वासिष्ठ सूत्र में लिखा है:—

वेद में ऐसा वर्णन किया गया है कि वह नारी जो नग्न नहीं फिरती (अर्थात् जो बाल्यावस्था को समाप्त कर चुकी है) और जिसमें अपकालिक अल्पवित्रता भी नहीं है, स्वर्गवत् है।

(वासिष्ठ अ० ५, सू० १)

बाल्यावस्था में कन्याओं की रक्षा उसके पिता माता तथा जब वह गुरुकुल में पढ़ने जाती थीं तो उनकी रक्षा उनकी

आचार्य्या करती थीं सो तो ठीक ही थी। कन्या युवावस्था को प्राप्त हो विवाह कर जब पतिकुल को जाती थी तब भी वह निकृष्ट दासी वा अप्रतिष्ठित नहीं मानी जाती थी प्रत्युत वह महती प्रतिष्ठा वाली समझी जाती थी जिसका प्रमाण यह है कि वासिष्ठ सूत्र अध्याय १३, सूत्र ५९ तथा ६० में जहां यह लिखा है कि यदि एक ही सड़क पर सम्मुख आते हुए राजा को स्नातक ब्रह्मचारी मिले तो राजा को चाहिये कि स्नातक ब्रह्मचारी को (मान्य देने के लिए) मार्ग देदे वहां यह भी लिखा है कि "(राजा और स्नातकादि) सब लोग (मान्य देने के लिए) उस विवाहिता वधू के लिये मार्ग छोड़ दें जो (सवारी पर पितृगृह से) पति गृह को ले जाई जाती हो।"

पति के साथ रहती हुई स्त्री उसकी निकृष्ट दासी नहीं प्रत्युत उसकी अर्धांगिनी समझी जाती थी, पति पत्नी की रक्षा में रहता था और पत्नी पति की रक्षा में रहती थी। पति की पूरी रक्षा न रहने के कारण किसी कुसंगवश यदि पत्नी कभी मदिरा पान कर लेती थी तो वह घोर पतित समझी जाती थी और माना जाता था कि पति का आधा शरीर पतित हो गया और अब आधा शरीर रखने के कारण वह किसी काम का न रहा यथाः—

पति का आधा अंग टूट कर गिर पड़ता है यदि उसकी पत्नी मदिरा पान करती है।

(वासिष्ठ अध्याय २१, सूत्र १५)

पत्नी जब पुत्रवती हो जातीथी और उसके पुत्र प्रौढ़ हो जाते थे तो माता उन पुत्रों की दासी की भांति नहीं रहती थी प्रत्युत पुत्रों की सर्वोत्तम पूज्यदृष्टि माता की ही ओर होती थी यथाः—

उपाध्याय की अपेक्षा दशगुणा अधिक प्रतिष्ठित आचार्य है आचार्य से सौ गुण अधिक प्रतिष्ठित पिता है और पिता से सहस्र गुण अधिक प्रतिष्ठा योग्य माता है।

(वासिष्ठ अध्याय १३, सूत्र ४८)

अत: जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं वासिष्ठ सूत्र अध्याय ५, सूत्र २ का अर्थ यह हुआ कि स्त्री की सर्वोपरि रक्षा में उसकी बाल्यावस्था में पिता मातादि, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र तत्पर रहें और उसको स्वतन्त्र वा अकेली वा असहायावस्था में न छोड़ें ?

उक्त सूत्रों के अतिरिक्त निम्नलिखित आपस्तम्ब सूत्रों से भी पति और पत्नी के धर्म्म तथा उनके समानाधिकार स्पष्ट ज्ञात होते हैं:—

पति और पत्नी के बीच विभाजन नहीं हो सकता (अर्थात् उनका विवाह बन्धन किसी भी प्रकार टूट नहीं सकता अथवा गृहसम्पत्ति को वे आपस में बांट नहीं सकते) क्योंकि विवाह-काल से ही वे धार्मिक कार्य्यों के लिए युक्त होते हैं, वह सब कर्म्म जिनसे आत्मिक योग्यताएं प्राप्त होती हैं उनके फल भी दोनों को ही मिलते हैं इसी प्रकार जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है उसमें भी उनका युक्ताधिकार है क्योंकि (विद्वानों का) कथन है कि पति की अनुपस्थिति में यदि पत्नी द्रव्य व्यय करे तो यह चोरी नहीं समझी जाती। (आपस्तम्ब सूत्र, प्रश्न २, पटल ६, खण्ड १४, सूत्र १७, १८, १६, २०)

पति और पत्नी दोनों ही युक्त सम्पत्ति पर अधिकार रखते हैं (अर्थात् सम्पत्ति दोनों की समझी जाती है)

(आपस्तम्ब, सूत्र, प्रश्न २, पटल ११, खण्ड २६, सूत्र ३)

यदि विवाह समय की प्रतिज्ञाएं टूटेंगी तो पति और पत्नी

दोनों ही निश्चय करके नरक में गिरेंगे।

(आपस्तम्ब सूत्र, प्रश्न २, पटल १०, खण्ड २७, सूत्र ६)

यह सूत्र स्पष्ट बतला रहा है कि विवाह बन्धन धर्मबन्धन समझा जाता था और जिस प्रकार धर्म्म किसी दशा में भी त्याज्य नहीं उसी प्रकार विवाह बन्धन भी किसी दशा में टूटने योग्य न था।

कदाचित् किसी कारण यदि कोई पुरुष अपनी सदाचारिणी स्त्री को त्यागता था तो वह स्त्री पतित नहीं मानी जाती थी प्रत्युत वह पुरुष ही पतित माना जाता था और जब तक वह अपने इस पाप का प्रायश्चित नहीं कर लेता था तब तक वह घृणित पुरुषही कहलाता था। पत्नीत्यागका प्रायश्चित यह था:—

जिसने अपनी स्त्री को अन्याय से त्याग दिया है वह गधे का चमड़ा ओढ़ कर (चमड़े के बाल ऊपर की ओर रहें) प्रतिदिन सात गृहों में यह कहते हुए भिक्षा मांगे कि उस पुरुष को भिक्षा दो जिसने अपनी पत्नी को त्याग दिया है। इसी प्रकार की भिक्षा से वह छः महीने तक अपना जीवन निर्वाह करे। (आपस्तम्ब प्र० १, पं० १०, खं०२८, सू०१६)

इसी प्रकार जो स्त्री कदाचित् अपने सदाचारी पति को छोड़ती थी तो वह भी पतित समझी जाती थी और जब तक वह इस पाप का प्रायश्चित्त नहीं कर लेती थी तब तक अति घृणित मानी जाती थी इस अपराध के लिए पत्नी के वास्ते यह प्रायश्चित्त था:—

यदि कोई स्त्री अपने पति को छोड़े तो द्वादश दिनों वाला कृच्छ्रव्रत छः महीने तक करना पड़ेगा।

(आपस्तम्ब प्र० १, प० १०, ख० २८, सूत्र २०)

संसार में मनुष्य कल्याण सम्बन्धी जितने नियम चलाए

जाते हैं उन की उत्तमता वा निकृष्टता उस परिणाम से सिद्ध होती है जो उक्त नियम किसी मनुष्य समाज में प्रकट करते हैं। पति और पत्नी के परस्पर सम्बन्ध को प्राचीन आर्य्यों ने भली भांति समझ कर उसे इस प्रकार चलाया था जिससे उस समयके आर्यगृह स्वर्ग स्थान बन रहे थे, पति और पत्नीके बीच ऐसा गाढ़ा प्रेम रहता था कि व्यभिचारी पुरुष वा व्यभिचारिणी स्त्री का नाम कठिनता से सुन पड़ता था जिस का प्रमाण छान्दोग्योपनिषद् में भी विद्यमान है। वहां लिखा है कि ब्रह्मविद्या की खोज में ऋषिगण जब महाराज **कैकेय** अश्वपति के राज्य में गए तो महाराजने ऋषियों का प्रार**म्भिक** आतिथ्यसत्कार कर निवेदन किया कि हे ऋषिगण! कृपया आप मेरे राज्य में निवास करें, (आप ऐसा न समझें कि मेरा राज्य अपवित्र है यहां ठहरना उचित नहीं) आपको मैं विश्वास दिलाता हूँ कि:—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाऽविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।"

(छान्दोग्य, प्रपाठक ५, खण्ड ११, वाक ५)

मेरे राज्य में न तो कोई चोर है और न कायर, न कोई मद्यप है और न अग्निहोत्र न करने वाला, न कोई अनपढ़ है और न व्यभिचारी और जब कि व्यभिचारी ही नहीं है तो व्यभिचारिणी स्त्री कहां हो सकती है ?

उक्त ऐतिहासिक घटना को पढ़कर कौन ऐसा पुरुष है जो यह कहने का दावा करे कि प्राचीन आर्य्यों का दाम्पत्य धर्म्म अपूर्ण था, वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्भर न था ?

पतित्याग और पत्नीत्याग के सहस्रों अभियोग जो प्रतिवर्ष

योरोप और अमेरिका में होते हैं वे बड़े बल से घोषणा कर रहे हैं कि इन देशों के लोगों ने अभी तक दाम्पत्य धर्म्म को नहीं समझा है।

सूत्रग्रन्थों के समय भी स्त्रियां बहुधा बड़े मान्य और पूजा की दृष्टि से देखी जाती थीं क्योंकि वाशिष्ठ सूत्र अध्याय २८, सूत्र ९ में स्पष्ट लिखा है:—

"स्त्रियां सर्वांग से पवित्र हैं।"

प्राचीन काल में पर्दे की कुरीति न थी--ब्राह्मण ग्रन्थों के समय की स्त्रियां बड़ी विदुषी होती थीं यह तो कन्याओं के गुरुकुल निवास तथा पत्नी का पति के साथ सब प्रकार के यज्ञों में सम्मिलित होने से सिद्ध ही है परन्तु इस से एक बात यह भी सिद्ध होती है कि उस समय की स्त्रियों में आजकल की तरह पर्दे की कुरीति न थी। यदि पर्दे की कुरीति होती तो (जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में लिखा है) राजा जनक की सभा में ब्रह्मवादिनी गार्गी वाचक्नवी महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ न कर सकती और न महर्षि याज्ञवल्क्य, गार्गी के इस प्रश्न पर"कस्मिनु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च?" कहते कि "गार्गि! मातिप्राक्षीः" अर्थात् हे गार्गी! अब मत पूछ। और न ऐतरेय ब्राह्मण की पञ्चम पञ्जिका के चतुर्थ खण्ड में यह लिखा मिलता "कुमारी गन्धर्वगृहीता वक्तास्मः" अर्थात् कुमारी गन्धर्वगृहीता वक्ता अर्थात् वक्तृता करने वाली थी, और न तैत्तिरीय (सं० २, २, ८, १) में यह लेख मिलता "इन्द्राणी वै सेनाया देवता" अर्थात् इन्द्राणी सेना की देवी है। लोपामुद्रा ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के तेईसवें अनुवाक के १७९ सूक्त का प्रचार किया था और कुमारी अपालात्रेयी ने

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के नवम अनुवाक के ९१ सूक्त का प्रचार किया था। एवं अनेक देवियाँ ब्रह्मवादिनी अर्थात् ब्रह्म-विद्या का उपदेश करने वाली थीं जिनमें से कतिपय के नाम निम्नलिखित हैं:—

> **गोधा घोषा विश्ववाराऽपालोपनिषन्निषत् ।**
> **ब्रह्मजाया जुहूर्नाम्नी अगस्त्यस्य स्वसादितिः॥**
> **इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी ।**
> **लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी च शश्वती ॥**
> **श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा ।**
> **रात्री सूर्य्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः ॥**

इन प्रमाणों को पढ़कर कोई भी सदसद्विवेकी पुरुष नहीं कह सकता कि प्राचीन आर्य्यों में विदुषी स्त्रियां न थीं अथवा उन में पर्दे की रीति थी।

सूत्र ग्रन्थों के समय भी विदुषी स्त्रियों का अभाव न था। यदि उस समय विदुषी स्त्रियां न होतीं तो बौधायन सूत्र प्रश्न २, अध्याय १, कण्डिका २, सूत्र २१ में आचार्याओं का उल्लेख न होता, और न आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल ७, खण्ड १३, सूत्र ९ में आचार्य्या विषयक लेख होता।

गृहस्थियों के साधारण धर्म—ऐसे तो जितने शुभ कर्म्म हैं उन सब के ही अनुष्ठान का अधिकार गृहस्थ को था तो भी उनके सामान्य कर्म्म निम्नलिखित थे:—

(१) नित्य स्नान कर अग्निहोत्र करना यथा:—

य आहिताग्निर्यदि प्रातरस्नातोऽग्निहोत्रं जुहुयात् का तत्र प्रायश्चित्तिरिति (ऐतरेय ब्राह्मण सप्तमपञ्जिका, द्वितीयाध्याय, खण्ड ८)

करे) (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ५, खण्ड१२, सूत्र १३,१४)

प्रतिदिन एकान्त में वेद के कुछ भागों का पाठ किया करे। विवाह समय जो गार्हपत्याग्नि जलाई गई हो उसी से गृह-सम्बन्धी सब संस्कारों को करता रहे।

(गौतम अध्याय ५, सूत्र ४, ८)

जब भोजन तैयार हो जाय और बलिवश्वदेव हो जाय तो उस भोजन में से सबसे पहले (किसी को) दान देदे तदनन्तर उस भोजन में से अतिथियों को, अपने छोटे २ बच्चों को, वृद्ध वा रोगी को, अपनी सम्वन्धिनी स्त्रियों तथा गर्भवती स्त्रियों को भोजन करावे। गृहपति और गृहपत्नी को उचित है कि वह कभी भोजन मांगने वाले को न फेरे जबकि अपने यहां बलिवश्वदेव हो चुका हो। यदि (दूसरों को देने को) भोजन के लिए कुछ शेष न हो तो स्थान, जल, आसन और प्रियवचन तो एक अच्छे पुरुष के गृह में कभी भी नहीं घटते।

(आप० प्र० २, प०२, खं० ४, सू० १०, ११, १२, १३, १४)

गृहपति चाहे अपने आप भूखा रह जाय, अपनी स्त्री वा बच्चों को भूखा रख ले परन्तु उस दास (शूद्र) को कभी भूखा न रक्खे जो उसका दैनिक कार्य करता है।

(आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ४, खण्ड ६, सूत्र ११)

धर्म से धन कमावे और उसे योग्य पुरुषों को दे वा उचित वस्तुओं के लिए व्यय करे। अयोग्य पुरुष को कभी कुछ भी न दे। हां दे यदि उसका उसे भय हो। और लोगों को अपनी उदार वृत्ति तथा दानों से प्रसन्न करता रहे और उन सुखों को भोगे जो धर्म्मानुकूल हों।

(आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ८, खण्ड २०, सू० १८ से २२)

जो लोग गुरु के लिये मांगते हों, अथवा विवाह संस्कार का व्यय चलाने को मांगते हों अथवा रोगी की औषधादि के लिए मांगते हों, अथवा जो दीन होने के कारण (अपने भरण पोषण के लिए) मांगते हों, अथवा जो यज्ञ करने जाता हो और मांगता हो, अथवा जो विद्याध्ययन में लगा हुआ हो, अथवा जो यात्री हो अथवा जिसने विश्वजित् यज्ञ कर लिया हो (अर्थात् अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर संन्यास धारण कर लिया हो), उन सबको (वेदी से बाहर) द्रव्य की भेंट अवश्य ही देनी चाहिए।

(गौतम अध्याय ५, सू० २१)

गृहस्थ को अपना कोई भी समय (चाहे प्रातः दोपहर वा सन्ध्या ही क्यों न हो) कभी भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिए प्रत्युत अपनी योग्यतानुसार प्रत्येक समय से लाभ उठाना चाहिए चाहे आत्मिक योग्यता सम्बन्धी, धन सम्बन्धी, सुख सम्बन्धी। परन्तु उक्त तीनों लाभ अर्थात् आत्मिक, अर्थ और काम सम्बन्धी में से उसे अधिकतर आत्मिक योग्यता की ओर ध्यान देना चाहिए। उसे अपनी विशेषेन्द्रिय, अपना पेट, अपने हाथ, अपने पग, अपनी जिह्वा, अपनी आंखों को पूर्ण वश में रखना चाहिए। उसे घर पर सदा बैठे रहना भी उचित नहीं है। उसे सदा सत्य बोलना चाहिए। एक आर्य्य की भांति उसे आचरण करना चाहिए। धर्मात्मा पुरुषों को ही उसे विद्या दान देना चाहिए। शास्त्रों में लिखित शुद्धि सम्बन्धी नियमों का उसे पालन करना चाहिए। वेदों के अध्ययनमें उसे प्रीति रखनी चाहिए। किसी भी प्राणी को कभी भी हानि पहुंचानी उसे नहीं चाहिए, उसे नम्र तो होना चाहिए परन्तु साथ ही दृढ़ भी।

सदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए उदारचित्त होना चाहिए।

(गौतम अध्याय ६, सूत्र ४६, ४७, ५०, ५३, ६५, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३)

तीनों वर्णों के द्विजों का समान धर्म्म वेदाध्ययन, अग्नि-होत्र तथा दान देना है।

(गौतम, अध्याय १० सूत्र १)

गृहस्थ को चाहिए कि वेदाध्ययन में, यज्ञों के करने में, सन्तति उत्पन्न करने में तथा अपने अन्यान्य औचित्य पालन में पूर्ण परिश्रम करता रहे। उसे चाहिए कि अपने यहां आए हुए लोगों का उठकर सत्कार करे, उन्हें आसन दे और उनकी स्तुति करता हुआ उनसे मृदुभाषण करे और सब प्राणियों को अपनी शक्ति अनुसार भोजन दिया करे।

(वाशिष्ठ, अध्याय ८, सूत्र ११, १२, १३)

भोजन कहता है कि जो मुझे देवों, पितरों अपने सेवकों, अतिथियों, मित्रों को बिना दिए हुये खाता है, मैं उसको भक्षण कर जाता हूँ और उसके लिए मैं मृत्यु हूँ क्योंकि अपनी घोर मूर्खता के कारण वह विष खाता है, अर्थात् ग्रास नहीं खाता परन्तु जो अग्निहोत्र करके, वैश्वदेव करके, अतिथियों का सत्कार करके, अपने आश्रितों को भोजन कराके जो कुछ बचता है उसे सन्तोष, पवित्रता और श्रद्धा सहित खाता है उस पुरुष के लिए मैं अमृत हूं और सचमुच वही मुझ से आनन्द भोगता है।

(बौधायन प्रश्न २, अध्याय ३, कण्डिका ५, सूत्र १८)

सदाचार का सेवन मनुष्य मात्र का कर्तव्य है जिसका आत्मा असदाचार से बिगड़ गया है वह इस लोक और परलोक

दोनों में नाश (दुर्दशा) को प्राप्त होता है। न तपश्चरण, न वेदाध्ययन, न अग्निहोत्र, न पुष्कल दान उस मनुष्य को बचा सकता है जो दुराचारी है और जिसने धर्म्म मार्ग को परित्याग दिया है। वेद उस पुरुष को शुद्ध नहीं कर सकते जो आचरण में नीच है यद्यपि उसने छः अङ्गों सहित ही वेदों का अध्ययन किया हो। धूर्त पुरुष को जो धूर्तता करता है पवित्र वेद भी नहीं बचा सकते। दुराचारी पुरुष की सब मनुष्यां में निन्दा होती है, वह रोगों से दुःख पाता है और अल्पायु हो जाता है, सदाचार से ही मनुष्य आत्मिक योग्यता प्राप्त करता है, सदाचार से ही धन प्राप्त करता है, सदाचार से ही सुन्दरता प्राप्त करताहै और सदाचार ही कुसंस्कारों के प्रभाव को मिटा देताहै। धार्मिक पुरुषों में जो सदाचार के नियम स्थापित हैं उनके अनुसार जो पुरुष चलता है, जो श्रद्धावान् है और जो द्रोह रहित है वह विशेष गुणान्वित न होने पर भी सौ वर्ष तक जीता है।

(वासिष्ठ अध्याय ६ के कई सूत्र)

अपने कर्तव्यों का पालन केवल इस विचार से न करे कि उसे प्रसिद्धि, आय (धन) और प्रतिष्ठा प्राप्त होगी क्योंकि फल की आकांक्षा से किया हुआ कर्म कर्तव्यपालन नहीं कहाता। सांसारिक फल तो कर्तव्यपालन से स्वयं ही प्राप्त होते हैं यथा आम्र फल की प्राप्ति के लिए जब आम्र वृक्ष बोते हैं तो छाया और सुगन्धि अवश्य ही मिलती है। (जो केवल कर्तव्यपालन के विचार से कर्म्म करता है) उसे यदि सांसारिक फल नहीं भी मिलते तो भी उसका कर्तव्य पालन तो पूर्ण हो ही जाता है। धूर्तों,दुष्टों, नास्तिकों और मूर्खों के वचनों को सुनकर क्रुद्ध मत हो और न उन वचनों से ठगे जाओ। धर्म्म और अधर्म यह कहते नहीं फिरते कि हम यहां हैं हम यहां हैं। धर्म वही है

जिसके आचरण को तीनों द्विज वर्णों के ज्ञानी पुरुष सराहते हैं और जिस (आचरण) की वह निन्दा करते हैं वह अधर्म्म है। कर्म ऐसे करने चाहिए जिनका अनुमोदन सब देशों के ऐसे द्विज करें जिन्होंने अपने आचार्य्यों की यथोचित आज्ञा पालन की है, जो वृद्ध हैं, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों का दमन कर लिया है, जो न तो लोभ और न धूर्तता करते हैं। जो इस प्रकार आचरण करेगा वह दोनों लोकों (यह लोक और परलोक) का भागी बनेगा। (आपस्तम्ब प्रश्न १, पटल ७, खण्ड २० के कई सूत्र)

आत्मघात कभी न करे और न वह किसी अन्य का प्राण हनन करे नहीं तो उसे अभिशस्त बनना पड़ेगा।

(आपस्तम्ब प्रश्न १, पटल १०, खण्ड २८, सू० १७)

कभी संदिग्ध वार्ता के विषय में ऐसा न बोले मानों वह उसे विस्पष्ट जान रहा है।

(आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ५, खण्ड १२, सू० २१)

धर्म्म ही का आचरण करो, अधर्म्म का नहीं, सत्य ही बोलो, असत्य नहीं, विशालदृष्टि के बनो, संकुचित हृदय के नहीं, उसकी ओर देखो जो सबसे उच्च (श्रेष्ठ और महान्) है, उस की ओर नहीं जो सबसे उच्च नहीं है। वृद्ध पुरुष के बाल वृद्धता के लक्षण बतलाते हैं तथा वृद्ध पुरुष के दांत वृद्धता के लक्षण बतलाते हैं परन्तु जीवन की तथा धन की इच्छा वृद्ध पुरुष की भी ह्रास को प्राप्त नहीं होती। आनन्द उसी पुरुष के भाग में है जो कामनाओं को त्याग देता है, जिन कामनाओं को कि मूर्ख बड़ी कठिनता से छोड़ते हैं, जो (कामनाएं) वय के ह्रास के साथ ह्रास को प्राप्त नहीं होतीं और जो कि जन्म भर के लिए रोग हैं।

(वासिष्ठ, अध्याय ३०, सूत्र १, ९, १०)

शूद्र की स्थिति—इस ग्रन्थ के कई स्थानों में प्रकरणानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्तव्यों को संक्षेपतः वर्णन कर दिया है। यहां शूद्रों की स्थिति अधिकतर स्पष्टता के साथ जतलाने के लिए हमें इनके विषय में कुछ और वर्णन करना है क्योंकि आगे हमें खानपान तथा छूआछूत के विषय में भी कुछ लिखना पड़ेगा।

शूद्र उन्हीं को कहते थे जो मन्द बुद्धि होने के कारण विद्याध्ययन नहीं कर सकते हों चाहे वे ब्राह्मण के पुत्र हों, क्षत्रिय के, वैश्य के वा शूद्र के। शूद्र का भी पुत्र यदि बुद्धिमान् होने के कारण विद्याध्ययन करके ज्ञानी बन जाता था तो वह भी पूर्ण पूजा का पात्र माना जाता था। परमात्मा यदि शूद्र के पुत्र में बुद्धि दे और वह बुद्धि औरों के ज्ञान प्रदान से बढ़ाई जाय तो कोई भी अवरोध ऐसा नहीं दीखता जिससे कि उक्त शूद्र का पुत्र ज्ञानी न बन सके। प्राचीन काल में शूद्रों के बुद्धिमान् पुत्रों को आचार्य्य लोग बराबर पढ़ाते रहे हैं और परमात्मा की कृपा से वे बड़े २ ज्ञानी हो चुके हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की द्वितीय पञ्जिका के तृतीयाध्याय के प्रथम खण्ड में लिखा है:—

"ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन् दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति......ते वा ऋषयोऽब्रुवन् विदुर्वा इमं देवाः।"

अर्थात् किसी समय ऋषि लोग सरस्वती नदी के किनारे यज्ञ कर रहे थे, उस समय इलूष नाम पुरुष का पुत्र कवष उनके बीच आ बैठा। ऋषि लोग बोले यह दासी का पुत्र जो अब्राह्मण है हम लोगों के बीच बैठ कर किस प्रकार दीक्षा कर सकता

है ? पुनः वे सब ऋषि बोले इसको ता देवता लोग भी जानते हैं। इत्यादि।

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि उक्त कवष ऐलूष वड़ा ज्ञानी हो गया था कि उस की प्रसिद्धि देवताओं (विद्वानों) में फैल गई थी।

ऋग्वेद मण्डल १० अनुवाक ३, सूक्त ३०, ३१, ३२, ३३ तथा ३४ का ऋषि अर्थात् समाधि द्वारा इन सूक्तों के मन्त्रों का यथार्थ परमात्मा के द्वारा जान कर इन का प्रचारक कवष ऐलूष हुआ है जिसका नाम अति प्राचीन काल से उक्त सूक्तों के ऊपर लिखा चला आता है। दासी का पुत्र बुद्धिमान्,ज्ञानी तथा परमात्मा का उपासक बनने से यदि मन्त्रद्रष्टा ऋषि बन सकता है तो उस के लिए अन्य और कौनसी महत्ता शेष रह गई ?

इसी प्रकार ऋग्वेद मण्डल १, अनुवाक १७ के सूक्त ११६ से १२६ तक का ऋषि अर्थात् इन के अर्थों का प्रथम २ प्रचारक (शूद्रा औशिक का पुत्र) कक्षिवान् था। 'औशिकपुत्रः कक्षिवानृषिः' यह नाम उक्त सूक्तों के ऊपर आर्य्य लोग अति प्राचीन काल से लिखते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ४ में स्पष्ट लिखा है कि सत्यकाम जावाल की माता ने उसे किससे गर्भ धारण कर उत्पन्न किया यह जावाल की माता को ज्ञात न था अतःजावाल का कुल कुछ भी ज्ञात न था परन्तु उसे महर्षि गौतम ने पढ़ाया। एवं महर्षि रैक्व ने शूद्र के बालक जानश्रुति को विद्यादान दिया।

सूत्रग्रन्थों में भी ऐसे प्रमाण हैं जिन से ज्ञात होता है कि शूद्र का पुत्र ज्ञान धारण करने के कारण यदि उत्तम कर्म करे तो वह उत्तम बन सकता है और द्विज कुलोत्पन्न यदि मूर्ख हो वा निकृष्ट कर्म्म करे तो वह पतित हो जाता है यथा :—

धर्म्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ। अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। (आपस्तम्ब धर्म्म सूत्र।)

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम २ वर्ण को प्राप्त होता और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस २ के योग्य होवे। वसे ही अधर्म्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्ण वाला मनुष्य अपने से नीचे २ वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे।

जो ब्राह्मण कुलोत्पन्न वेदाध्ययन नहीं करता (अतः) जो अन्यों को नहीं पढ़ाता तथा जो अग्निहोत्र नहीं करता वह शूद्र के बराबर हो जाता है। वह द्विज कुलोत्पन्न जो वेदों के न पढ़ने के कारण अन्यान्य कर्म्मों में लग जाता है जीता हुआ ही पतित हो जाता है, शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

(वासिष्ठ अध्याय ३, सूत्र १ तथा २)

सूत्रग्रंथों में शूद्रों में सामान्य धर्म तथा उनकी जीविका और प्रतिष्ठा के विषय में इस प्रकार उल्लेख है:—

शूद्र के लिए भी सत्य, नम्रता तथा पवित्रता का विधान है, जो उसके आश्रित हों उनकी रक्षा उसे करनी चाहिए, पत्नीव्रत होना चाहिए। उच्च वर्णों की सेवा करनी चाहिए, और उन से अपनी जीविका प्राप्त करनी चाहिए अथवा कारीगरी के कामों से उसे जीविका प्राप्त करनी चाहिए, यदि वह अपने स्वामी की सेवा करते समय काम करने के अयोग्य हो जाय तो स्वामी से वह रक्षा का भागी है और यदि उस का स्वामी विपत्ति में पड़ जाय तो उस का पालन करना भी शूद्र का काम है (गौतम सूत्र अध्याय १० के कई सूत्र)

गृहस्थ चाहे अपने को, अपनी भार्या को, अपने बच्चों को

भूखा रक्खे तो रक्खे परन्तु अपने सेवक (शूद्र) को कभी भूखा न रक्खे (आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ४, खण्ड ११, सूत्र ११)

किसी भी वृद्ध पुरुष का चाहे वह शूद्र भी होवे तो उस का सम्मान करो यदि तुम उसके पुत्र के वय के बराबर हो।

(गौतम, अध्याय ६, सूत्र १०)

छुआछूत और भक्ष्याभक्ष्य——जिस छुआछूत ने आजकल वर्णाश्रम धर्म्मानुयायी कहलाने वाले नर नारियों को डुबो रक्खा है, प्राचीन ग्रंथों में इस का चिह्न भी कहीं नहीं मिलता। आपस्तम्ब धर्म्म सूत्र में लिखा है:—

"आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः......"

(द्विज गृहस्थों के घर) शूद्र भी भोजन बना सकता है, परन्तु जब वह भोजन बनावे तो उसका निरीक्षण द्विज करले। यदि शूद्र भोजन बनावे तो उसे प्रतिदिन शीश के बाल, दाढ़ी के बाल, शरीर के बाल तथा नख कटवा लेने चाहियें और वस्त्र सहित स्नान कर लेना चाहिए। (यदि प्रतिदिन क्षौर न करा सके तो) आठवें दिन अथवा प्रतिपदा और पूर्णिमा को क्षौर करा लिया करे। पश्चात् शूद्र पाचक अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित होवे और कहे कि भोजन तय्यार हो गया, यह सुनकर गृहपति कहे कि सुपक्व भोजन ही श्री वृद्धि का कारण है, यह श्री वर्द्धक होवे। द्विज के निरीक्षण के विना जो भोजन शूद्र तय्यार करे उसे गृहपति स्वयं पुनः अग्नि पर रखले और उस पर जल के छींटे डाल दे यह भोजन देवताओं (विद्वानों) के भी खाने योग्य हैं।

(आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल २, खण्ड ३, सूत्र ४, ६, ७, ८, ९, १०, ११।)

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होताहै कि द्विज गृहपति के घर यदि शूद्र भोजन बनावे तो वह भोजन द्विज मात्र के लिये भक्ष्य था। पुनः वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण एक दूसरे के घर का भोजन खाते थे इस की सिद्धि की क्या आवश्यकता है ? इन्हीं सूत्र ग्रंथों में लिखा है कि गृहपति के घर में जो भोजन तय्यार हो जाय पहले उस से बलिवैश्वदेव करे और पुनः उसी भोजन में से अतिथियों को खिलावे इन्हीं सूत्र ग्रंथोंमें लिखा है कि चारों वर्णों के लोग गृहपति के अतिथि बनते थे अतः इस में सन्देह ही क्या रहा कि चारों वर्णों के लोग उस भोजन को ग्रहण करते थे जो गृहपति अपने यहां तय्यार कराता था। आज कल की सखरी और निखरी कच्चे और पक्के भोजन का प्रश्न ही वहां उपस्थित नहीं हो सकता था क्योंकि कोई भी गृहपति अपने यहां प्रतिदिन एक ही प्रकार का भोजन बनवा नहीं सकता होगा।

जो वस्तु अखाद्य और अपेय माने जाते थे उनकी संक्षिप्त गणना निम्नलिखित है:—

पक्व (पकाया हुआ) भोजन जो रातभर पड़ा रहे (अर्थात् वासी हो जाय) वह न खाद्य न पेय है, न वह पकाया हुआ भोजन जो किसी कारण कड़वा हो जाय, प्रत्येक प्रकार की ऐसी वस्तु जिससे मद (नशा) हो वर्जित है, इसी तरह वह भोजन जो उस प्रकार की पत्तियों के साथ जिन से मदिरा वन सके बना हो अखाद्य है, (आपस्तम्ब, प्रश्न १, पटल ५, खण्ड १७, सू० १७,१८, २१, २५)

वह भोजन मत खाओ जिस में बाल वा कीड़े गिर पड़े हों जो एक वार पक्व हो गया हो और पुः पकाया जाय (गर्म किया जाय)। (गौतम अध्याय २७, सूत्र ६ तथा १५)

उच्छिष्ट भोजन किसी का न खावे......वह भोजन भी न खावे जो देर तक रक्खे रहने से बेस्वाद हो गया हो, जो स्वभावत: बिगड़ा हुआ हो, जो एक बार से अधिक पकाया गया हो, जो कच्चा हो वा जो थोड़ा कच्चा हो अर्थात् जो सुपक्व न हो।

(वासिष्ठ, अध्याय १४, सूत्र २० तथा २८)

सुख शान्ति का प्रधान कारण—उक्त लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गृहस्थाश्रम नियमपूर्वक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियोंको उत्पन्न करता था। गृहस्थाश्रम के जो चार भेद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे वे किसी पक्षपात के कारण नहीं प्रत्युत गुण कर्म्मानुसार थे। किसी भी शूद्र कुलोत्पन्न बुद्धियुक्त व्यक्ति को इस कारण दुःखी नहीं होना पड़ता था कि परमात्मा ने तो मुझे बुद्धि दी परन्तु मनुष्य मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं अर्थात् मुझे ज्ञान दान नहीं करते। शूद्रों के लिए उन्नति का मार्ग खुला हुआ था जिस पर चलते हुए वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि के पद तक भी पहुँच सकते थे। शूद्रों को वा किसी अन्य वर्णों के पुरुषों को यह भी कहने का अवसर नहीं मिलता था कि अमुक पुरुष का पुत्र महा निर्बुद्धि तो है परन्तु उस का कितना सम्मान होता है। ऐसे मन्दबुद्धि पुरुष चाहे ब्राह्मण कुमार ही क्यों न हों पतित समझे जाते थे और उन्हें केवल शूद्रों की कोटि का सत्कार मिलता था। इस प्रकार प्राकृतिक घटना की भांति चारों वर्णों के काम निर्विघ्नता के साथ चल रहे थे जिस से भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर चढ़ गया था।

कोई भी परिव्राजक जिस का काम जीविकोपार्जन नहीं था भूखा नहीं रह सकता था, उसको सबसे पहले भोजनादि से

सत्कार करना गृहस्थी का काम था और न कोई अन्धा या लूला-लंगड़ा वा पापरोगी वा पतित वा अन्य कोई जो जीविकोपार्जन में असमर्थ था और जो गृहस्थ के द्वार पर आ जाता था कभी भूख की पीड़ा से संतप्त न होता था क्योंकि गृहस्थ का धर्म्म था कि भोजन तय्यार हो जाने के बाद वह बलिवैश्वदैव अवश्य करे एवं अपने द्वार पर आए हुए भूखे को अन्न भी अवश्य दे। अंगविहीनों, पापरोगियों वा पतितों को तो अवश्य दान दिया ही जाता था इनके अतिरिक्त उन ज्ञानी धर्म्मात्मा पुरुषों अर्थात् ब्राह्मणों को भी जो स्वजीविकोपार्जन की चिन्ता छोड़ ज्ञान वृद्धि के लिए निरन्तर यत्न किया करते थे उत्तमोत्तम दानों से सत्कृत किया जाता था परन्तु उस पुरुष को दान नहीं दिया जाता था जो बुद्धि रखता हुआ भी आलस्य के कारण पुरुषार्थहीन हो याचना करता था।

वाशिष्ठ सूत्र अध्याय २ सूत्र ४ में स्पष्ट लिखा है कि राजा को चाहिये कि उस ग्राम के निवासियों को दण्ड दे जहां (नाम मात्र) के ब्राह्मण, वेद विद्या विहीन स्वधर्म्म की पालना न करने वाले भिक्षा मांग कर जीवन व्यतीत करते हों, (ऐसे ग्रामनिवासियों को) दण्ड देने का कारण यह है कि वे लोग लुटेरों को भोजन कराते हैं। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि उस समय का दान आजकल की तरह कुपात्रों के लिए नष्ट नहीं होता था। जबकि दान सुपात्रों को और उत्तम कार्य्यों के सम्पादन के लिए मिलता था तो उस समय उन्नति न होती तो और किस समय होती ?

आजकल भी भारतवर्ष में कई करोड़ रुपये दान होते हैं परन्तु इसका बड़ा भाग अपात्रों को मिलता है, यदि दान की शैली बदल जाय और सुपात्रों एवं धर्म्म प्रचार, सुशिक्षा प्रचारादि

कार्य्यों के लिए दान मिलने लगे तो निस्सन्देह इस समय भी भारत की बड़ी उन्नति हो सकती है।

सुनियमों के प्रचरित रहते हुए भी यदि कोई पुरुष धर्म्मारोपित सामाजिक नियमों को तोड़ता था तो वह अपराधी समझा जाता था और (जसा कि आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न २, पटल ५, खण्ड १० तथा ११ में लिखा है) उसकी शुद्धि के लिए उसका आचार्य्य ही प्रायश्चित्त नियत कर देता था अथवा अपराधी के दण्ड होने की दशा में राजपुरोहित (जो बड़ा धार्मिक और विद्वान् हुआ करता था) प्रायश्चित्त नियत करता था। यदि अपराधी विशेष उद्दण्ड होता था तो राजा बलात् प्रायश्चित्त कराता था और प्रायश्चित्त न करने की दशा में राजा उसे कारागारादि विविध प्रकार के दण्डों से दण्डित करता था। राजा अपनी प्रजा के हित चिन्तन में सदा लगा रहता था और उनके दुःख सुख में सम्मिलित होने के लिए गौतम सूत्र अध्याय ५ सूत्र ३०, ३१, ३२, ३३ में यह न लिखा होता कि यदि गृहस्थ के घर राजा आवे और वह राजा यदि श्रोत्रिय (वैदिक विज्ञान में पारंगत) हो तो उसका सत्कार मधुपर्क से करे, वह जितनी वार आवे उतनी वार मधुपर्क से सत्कार करे, यदि राजा श्रोत्रिय न हो तो मधुपर्क के सिवाय अन्यान्य रीतियों से भली भांति सत्कार करे और उसके लिए विशेष भोजन बनवावे।

गृहस्थाश्रम के विषय में जो कुछ पूर्व संक्षेपतः लिखा जा चुका है उससे विशेष नहीं तो संक्षिप्त रीति से तो यह अवश्य ही ज्ञात हो गया होगा कि किस प्रकार सुख और शान्ति से प्राचीन काल के भारतीय गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते थे।

वानप्रस्थ और संन्यास ।

शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में लिखा है :—

"ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।"

अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होवे, गृहस्थाश्रम को समाप्त कर वानप्रस्थ होवे (तथा) वानप्रस्थाश्रम को समाप्त कर परिव्राजक वा संन्यासी होवे ।

परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में यह भी लिखा है:—

"यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ।"

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन वन से (वानप्रस्थाश्रम से) वा गृह से (गृहस्थाश्रम से) वा ब्रह्मचर्याश्रम से ही परिव्राजक वा संन्यासी बन जावे ।

पहिले "ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य" इत्यादि में संन्यास का क्रम कहा है और द्वितीय "यदहरेव विरजेत्" इत्यादि में विकल्प बतलाया है अर्थात् एक पक्ष तो यह है कि वानप्रस्थाश्रम समाप्त करके संन्यासी होवे द्वितीय पक्ष यह है कि गृहस्थाश्रम से ही संन्यास ग्रहण करे और तृतीय पक्ष यह है कि "जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय विषय भोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो वह ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास लेवे।" इसी प्रकार सूत्रग्रन्थों में भी लिखा है :—

साधारण नियम तो यह है कि सत्तरवें वर्ष की समाप्ति पर जब कि सन्तान धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने लगे तो गृहस्थ संन्यासी हो जावे। अथवा वानप्रस्थी पुरुष वानप्रस्थ के कर्त्तव्यों का पालन कर संन्यासी होवे अथवा जिसने ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर दिया हो वह ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेवे।

(बौधायन सूत्र, प्रश्न २, अध्याय १०, कण्डिका १७, सूत्र ५, ३ तथा २)

वेद में लिखा है कि एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करता हुआ मनुष्य ब्रह्म में लीन हो जाता है।

(बौधायनसूत्र, प्रश्न २, अध्याय १०, कण्डिका १७, सूत्र १५)

महर्षि वचन

जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है।

महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

वानप्रस्थ

सूत्रग्रन्थों में वानप्रस्थियों के कर्त्तव्य निम्नलिखित बतलाए गए हैं:—

जटा जूट, वल्कल वा चर्म पहिने, ग्राम में न जाय और न जाते हुए खेत में पग रक्खे, केवल वन्य फल मूलों को एकत्रित कर खावे, सदा (अन्तर और बाह्य से) पवित्र रहे, अपने हृदय को दया भाव से पूर्ण रक्खे जो अतिथि उसके आश्रम पर आवें उनका फल मूल से सत्कार करे, अन्यों को दिया तो करे परन्तु किसी से कुछ ले नहीं।

त्रिकाल--प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या को स्नान करे,अपने आश्रम के नियमानुसार अग्न्याधान कर अग्निहोत्र करे इस प्रकार छः मासों तक निर्वाह कर कुटि और अग्नि को भी परित्याग कर वृक्ष मूल में निवास करे, इस प्रकार जो कोई देव, पितर और मनुष्यों को उन २ का भाग देता है उसे अनन्त सुख मिलता है।

(वासिष्ठ, अध्याय ६ के सब सूत्र)

(फलादि पर जीवन निर्वाह करने के पश्चात् कुछ दिनों तक) केवल जल पीकर और पुनः केवल हवा पीकर और पुनः कुछ दिन (श्वास लेता हुआ) सर्वथा निराहार रहे (अर्थात् इस प्रकार उग्र तितिक्षा का साधन करे।)

(आपस्तम्ब सूत्र, प्रश्न २, पटल ६, खण्ड २२, सू० ४)

वानप्रस्थियों के विषय में मुण्डकोपनिषत् में लिखा है :—

"तपः श्रद्धे येह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥"

अर्थात् जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जंगल में वसते हैं वे जहां नाश रहित पूर्ण पुरुष हानि लाभ रहित परमात्मा है वहां निर्मल होकर प्राण द्वार से उस परमात्मा को प्राप्त हो के आनन्दित हो जाते हैं ।

महर्षि वचन

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में आनन्द लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है और जहां विरोध, कलह होता है वहां दुःख दरिद्रता और निन्दा निवास करती है ।

महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

संन्यास

सूत्रग्रन्थों में संन्यासियों के कर्तव्य निम्नलिखित बतलाए गए हैं:—

संन्यासी को चाहिए कि सब प्राणियों को अभय दान देता हुआ घर से निकल जावे, वह संन्यासी जो सब प्राणियों के साथ निर्वैर (शान्ति सहित) वर्तता हुआ घूमता है उसे किसी भी प्राणी से भय प्राप्त नहीं होता, (संन्यासी को चाहिए कि) वह अन्यान्य सभी संस्कारों को परित्याग दे परन्तु वेदों के अध्ययन को कभी न छोड़े क्योंकि वेदों के भूलने सेवह शूद्र हो जाता है अतः वेदों का अध्ययन कभी न छोड़े, (उसके लिए) "ओ३म्" का स्वाध्याय वेद का सर्वोत्तम स्वाध्याय है, प्राणायाम सबसे बढ़कर तपश्चरण है, भिक्षा पर निर्वाह उपवास व्रत से बढ़कर है, दयालुता दानशीलता से बढ़कर है, संन्यासी को चाहिए कि वह अपने बाल मुंडवाया करे, किसी प्रकार की भी सम्पत्ति धारण न करे और न कोई अपना गृह रक्खे, (प्रतिदिन) ऐसे सात द्वारों में(भोजनार्थ) भिक्षा मांगे जिन्हें उसने पूर्व से न चुन रक्खा हो, भिक्षा मांगने ऐसे समय पर जावे जब कि भोजन शाला का धूम बन्द हो गया हो और चक्की तथा ओखली का चलना भी बन्द हो, कौपीन धारण करे अथवा एक वस्त्र पहने, भूमि पर शयन करे, अपने निवास स्थानों को बारम्बार बदलता रहे, ग्राम के किसी अन्तिम भाग, किसी देव मन्दिर में, अथवा किसी रिक्त गृह में अथवा

किसी वृक्ष के मूल में निवास करे, अपने हृदय में विश्वव्यापक ब्रह्म का ज्ञान खोजा करे, जब उसे (भोजनादि के लिए) कुछ प्राप्त न हो तो उसे उदासीन होना ठीक नहीं और न उसे प्रसन्न होना चाहिए जब कि उसे कुछ मिल जावे, उसे केवल उतना ग्रहण करने का यत्न करना चाहिए जितने से कि उसका प्राण पोषण हो, गृह सम्बन्धी सम्पत्तियों के विषय में उसे किञ्चित् भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उस संन्यासी को ही मोक्ष का ज्ञान होता है जो न तो किसी कुटि, न वस्त्र, न तीन पुष्करों (पवित्र ताल), न गृह, न आसन, और न भोजन की चिन्ता करता है। संन्यासी को किसी प्रकार के भी विषयानन्द को भोगना नहीं चाहिए।

(वाशिष्ठ सूत्र, अध्याय १० के कई सूत्र)

संन्यासी को चाहिये कि पीत युक्त लाल रंग के वस्त्र धारण करे, मन, वच और कर्म्म तीनों में से किसी से भी किसी प्राणी को हानि न पहुंचाए (दण्ड न दे)।

(बौधायन सूत्र, प्रश्न २, अध्याय ६,
कण्डिका ११, सूत्र २१ तथा २३)

ब्रह्म का अनादि महत्त्व उसकी क्रियाओं से न बढ़ता है और न घटता है, जीवात्मा उस महत्त्व के भाव को जान सकता है, वह पुरुष जो उस भाव को जानता है दुष्कर्म्मों के लांछन से बचा रहता है, उस ज्ञान से (बारम्बार के) जन्मों से बच जाता है, उस पुरुष को (जो संन्यासी होता है) अनादि (परमात्मा) महत्त्व को पहुंचा देता है (संन्यासाश्रम की महिमा इन वाक्यों से निकलती है) संन्यासी को श्वेत वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए।

(बौधायन प्रश्न २, अध्याय १०, कण्डिका १७, सूत्र ७-९, ४४)

संन्यासी को चाहिये कि इन व्रतों को अवश्य धारण करे अर्थात् प्राणी मात्र को हानि पहुंचाने की इच्छा से रहित रहना, सत्यता, दूसरों की सम्पत्ति की कामना से सदा पृथक् रहना, पवित्रता तथा उदारता। उसे भिक्षा के लिये केवल इतनी देर ठहरना चाहिये जितनी देर में एक गाय दुही जा सके। संन्यासी को चाहिये कि अग्नि न रक्खे, कोई भी निवास स्थान न बनावे, कोई भी अपना रक्षक न रक्खे। वेद रूप वृक्ष का मूल "ओ३म्" है (अतः) "ओ३म्" वेद का सार है, ओ३म् के अर्थों के विचार से (ध्यान से) संन्यासी ब्रह्म में युक्त हो जाने योग्य बन जाता है।

(बौधायन, प्रश्न २, अध्याय १०, कण्डिका १८
सूत्र १, २, ६, २२, २५, २६)

संन्यासी को चाहिये कि (अपने लिए) धन न रक्खे, (सदा) पवित्र रहे, उत्तम भोजनों की इच्छा छोड़ दे, अपनी वाणी, आंख तथा वचन को वश में रक्खे।

(गौतम अध्याय ३, सूत्र ११, १२, १६)

ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में संन्यासियों के विषय में लिखा है:—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युथायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।

(शतपथ काण्ड १४, प्र० ५, ब्रा० २, कं० १)

पुत्रादि के मोह, धन से भोग वा मान्य, लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं।

वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः

शुद्धसत्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परि-
मुच्यन्ति सर्वे ॥ (मुण्डकोपनिषत्)

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थ ज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यास योग से शुद्धअन्तःकरण संन्यासी होते हैं वे परमेश्वर में मुक्ति सुख को प्राप्त हो भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूर्ण हो जाती है तब वहां से छूट कर संसार में आते हैं।

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
(कठोपनिषत्)

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शान्त नहीं वह (संन्यास लेके भी) प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।

यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥
(कठोपनिषत्)

(संन्यासी) बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोक के उन को ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञानको शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे।

सर्व आश्रमियों के सामान्य धर्म ।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी इन चार आश्रमियों के सामान्य धर्म्म ये हैं:—

पवित्र ज्ञान (वेद) का परित्याग न करना (अर्थात् वेदों का

स्वाध्याय) सब आश्रमियों का सामान्य धर्म्म है।

(आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ६, खण्ड २१, सूत्र ४)

पीछे में किसी की निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान, नास्तिकता, स्तेय, स्वप्रशंसा, अन्यों पर दोषारोपण, छल, कपट, लोभ, भ्रम, क्रोध, द्वेष इन सब का त्याग सभी आश्रम के लोगों का कर्त्तव्य माना जाता है।

(वासिष्ठ अध्याय १०, सूत्र ३०)

पुनः सब आश्रमियों के सामान्य धर्म्म आपस्तम्ब सूत्र में इस प्रकार लिखे हुए हैं:—

उसे (मनुष्य को) चाहिये कि उन रीतियों को अवलम्बन करे जिन से आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जिन का परिणाम हो कि मनोविकार नष्ट हों और मनोनिग्रह होवे और मन आत्म-चिन्तन में स्थिर हो जावे। आत्मज्ञान की प्राप्ति से बढ़कर कोई उद्देश्य नहीं है। हम उन छन्दों को उद्धृत करते हैं वे जो आत्मज्ञान प्राप्ति विषयक हैं।

सर्व प्राणी उसी के निवासस्थान हैं जो प्रकृति के भीतर है जो अमर और दोषरहित है, जो उसकी उपासना करते हैं वे भी अमर हो जाते हैं जो कि (स्वयम्) निष्कम्प है और सब चर वासस्थानों में रहता है। इस संसार में जो इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं उनसे घृणा कर बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये यत्न करे।

हे शिष्य! मैंने जब कि अपने जीवात्मा में उस महान् स्व-प्रकाशरूप सर्वव्यापक, स्वतन्त्र परमात्मा को नहीं पहिचाना था जिस की प्राप्ति बिना किसी मध्यस्थ के ही करनी चाहिए तब मैं उसे (उस परमात्मा को) अन्य विषयों में ढूंढता था परन्तु अब जब कि मुझे ज्ञान हो गया वैसा नहीं करता अतः तू भी उस उत्तम मार्ग पर चल जो कि कल्याण (मोक्ष) की ओर

ले जाता है। और उस मार्ग पर न चल जो दुःख (वारम्वार के जन्ममरण रूप) की ओर ले जाता है।

यह (परमात्मा) वही है जो सब प्राणियों में अनादि है, जिसका गुण ज्ञान है, जो अमर है, अपरिवर्तनशील है, शरीर वा शारीरिक अवयवों से रहित है, वाणी वा जिह्वा से रहित है सूक्ष्म शरीर से भी रहित है स्पर्शेन्द्रियसे भी रहित है जो अति पवित्र है वही विश्व (अर्थात् व्यापक) है, वही सर्वोत्तम प्राप्तव्य वस्तु है,वह शरीर के बीचमें रहता है जसे कि सत्र यज्ञ में विषुवत् दिन मध्यवर्ती है, वह सब के लिए प्राप्तव्य है जैसे कि अनेक मार्गोंवाला नगर। जो उसका ध्यान करता है और जो सब स्थानों में और सर्वदा उस की आज्ञानुसार आचरण करता है और जो पूर्ण भक्ति के द्वारा उसे (उस परमात्मा को) देखता है (जो कि बड़ी कठिनता से दीखता है और जो कि अति सूक्ष्म है) वह स्वर्ग सुख को प्राप्त होता है वह ब्राह्मण जो कि बुद्धिमान् है और जो कि सब प्राणियों को (सर्वव्यापक) आत्मा में देखता है और जो उस सर्वव्यापक आत्मा का ध्यान करता हुआ अशान्त नहीं होता (अर्थात् एकाग्र हो जाता है) और जो कि प्रत्येक वस्तु में उस आत्मा को देखता है (वह ब्राह्मण) स्वर्ग में प्रकाशित रहता है।

जो कि स्वयम् ज्ञानस्वरूप है और जो कि कमल तन्तु से भी अधिकतर सूक्ष्म है सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है और जो कि अपरिवर्तनशील है और पृथिवी से बड़ा है सारे ब्रह्माण्ड को अपने भीतर रखता है इन्द्रियों और उन के विषयों का जो सांसारिक ज्ञान है उस से वह भिन्न है, उसका ज्ञान सर्वोपरि है।

उसी से जो स्वयम् विभाजन करता है सब शरीर उत्पन्न

ले जाता है। और उस मार्ग पर न चल जो दुःख (बारम्बार के जन्ममरण रूप) की ओर ले जाता है।

यह (परमात्मा) वही है जो सब प्राणियों में अनादि है, जिसका गुण ज्ञान है, जो अमर है, अपरिवर्तनशील है, शरीर वा शारीरिक अवयवों से रहित है, वाणी वा जिह्वा से रहित है सूक्ष्म शरीर से भी रहित है स्पर्शेन्द्रियसे भी रहित है जो अति पवित्र है वही विश्व (अर्थात् व्यापक) है, वही सर्वोत्तम प्राप्तव्य वस्तु है,वह शरीर के बीचमें रहता है जसे कि सत्र यज्ञ में विषुवत् दिन मध्यवर्ती है, वह सब के लिए प्राप्तव्य है जैसे कि अनेक मार्गोंवाला नगर। जो उसका ध्यान करता है और जो सब स्थानों में और सर्वदा उस की आज्ञानुसार आचरण करता है और जो पूर्ण भक्ति के द्वारा उसे (उस परमात्मा को) देखता है (जो कि बड़ी कठिनता से दीखता है और जो कि अति सूक्ष्म है) वह स्वर्ग सुख को प्राप्त होता है वह ब्राह्मण जो कि बुद्धिमान् है और जो कि सब प्राणियों को (सर्वव्यापक) आत्मा में देखता है और जो उस सर्वव्यापक आत्मा का ध्यान करता हुआ अशान्त नहीं होता (अर्थात् एकाग्र हो जाता है) और जो कि प्रत्येक वस्तु में उस आत्मा को देखता है (वह ब्राह्मण) स्वर्ग में प्रकाशित रहता है।

जो कि स्वयम् ज्ञानस्वरूप है और जो कि कमल तन्तु से भी अधिकतर सूक्ष्म है सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है और जो कि अपरिवर्तनशील है और पृथिवी से बड़ा है सारे ब्रह्माण्ड को अपने भीतर रखता है इन्द्रियों और उन के विषयों का जो सांसारिक ज्ञान है उस से वह भिन्न है, उसका ज्ञान सर्वोपरि है।

उसी से जो स्वयम् विराजन करता है सब शरीर उत्पन्न

होते हैं। वही सबका आदि कारण है वह अनादि है, वह अपरिवतनशील है परन्तु सब दोषों का क्षय इस जीवन में योग (साधन) से होता है।

वह ज्ञानी पुरुष जिस ने अपने दोषों का क्षय कर दिया है (जो दोष कि प्राणियों की हानि किया करते हैं) मुक्ति को प्राप्त करता है। अब हम उन दोषों को गिनाते हैं जिन से प्राणियों का क्षय हुआ करता है। वे दोष ये हैं:—

"क्रोध, हर्ष में फूल जाना, असन्तुष्टता, लोभ, घबड़ाहट, हानि पहुंचाना, छल (असत्य मानना बोलना वा करना), अधिक भोजन से पेट को फुला देना, निन्दा, द्रोह, तृष्णा, अन्तर्द्वेष, इन्द्रियों को दमन रखने में भूल, मन को एकाग्र करने की तत्परता में भूल, इन दोषों का निवारण योग से होता है।

क्रोध और विशेष राग से रहित होना, असन्तुष्टता, लोभ, घबड़ाहट (असमाधानता) छल और हिंसा से पृथक् रहना, सत्यता, मिताहार, निन्दावरोध, अद्वेष, निष्काम उदारता, प्रतिग्रह से पृथक्ता, धीरता, सरलता, अनुचित उत्तेजना का नाश, इन्द्रिय दमन, सब जीवों के साथ निर्वैरभाव, चित्त की एकाग्रता (सर्वव्यापक आत्मा के ध्यान में) आर्य्योचित सदाचार, शान्ति और सन्तोष, ये सब हैं जो कि सर्व सम्मति से सब आश्रमों के लिए (उचित) ठहराए गए हैं। वह पुरुष जो कि धर्म्मशास्त्र के नियमानुसार इन सब का आचरण करता है सर्वव्यापक ब्रह्म में प्रवेश करता है।

(आपस्तम्ब, प्रश्न १, पटल ८, खण्ड २२,
तथा खण्ड २३ के सब सूत्र)

वर्णाश्रम धर्म्म

वर्णाश्रम धर्म्म विषयक जो सब पूर्व लेख अंकित किए जा चुके हैं उनसे परिणाम यह निकलता है कि प्राचीन काल में प्रत्येक गृहस्थ की सन्तान को ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी बनना पड़ता था। जो मन्दबुद्धि पढ़ नहीं सकतेथे वे शूद्रों की कोटि में डाले जाते थे और जो पढ़ लिख कर भी पीछे से कुसंगति के कारण कुसंस्कृत हो जाते थे वे भी शूद्र वा उन से भी नीचे ठहराए जाते थे। गृहस्थाश्रम चार भागों में विभक्त था जिनके नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। ब्राह्मण, जाति के अभ्युदय अर्थात् उनके मानसिक, आत्मिक, शारीरिक तथा सामाजिक उन्नतियों के उपायों को आविष्कृत कर उन्हें प्रवृत्त कराने की चेष्टा किया करते थे और क्षत्रिय उक्त आविष्कृत नियमों के अनुसार सब वर्णों की उन्नति के लिये उन की रक्षा करते थे, वैश्य स्वदेश तथा विदेशों के वाणिज्य से जाति के वैभव की वृद्धि करते थे और शूद्र विशेष मानसिक कार्य्यों के सम्पादन न कर सकने के कारण अपने शरीर से ही उक्त तीनों वर्णों की सेवा किया करते थे।

इन चारों वर्णों के लोग अपनी २ योग्यता के कारण उच्च और नीच समझे तो जाते थे परन्तु अपने २ कर्त्तव्य पालन करने के कारण सभी कल्याण के अधिकारी माने जाते थे। ब्रह्मचर्य्याश्रम की समाप्ति पर जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता था वह अपने गुणकर्मानुसार किसी एक वर्ण के कार्य्यों

के सम्पादन की प्रतिज्ञा करता था एवं वह उसी वर्ण का माना जाता था। सब वर्ण के लोग सब वर्ण के हाथ का भोजन खाते थे। समवर्ण का विवाह अच्छा समझा जाता था परन्तु उच्च वर्ण का पुरुष कभी २ अपने से नीच वर्ण की कन्या से भी विवाह कर सकता था। इस प्रकार चारों वर्ण एक दूसरे के साथ बंधे हुए सुख से जीवन व्यतीत करते थे।

गृहस्थाश्रम को समाप्त कर लोग विशेष तपश्चरण करने के लिए वानप्रस्थ बनते थे और फिर संन्यासी परन्तु यह कोई निश्चित नियम नहीं था, जो कोई विशेष साधन सम्पन्न पुरुष परोपकार की अति तीव्र कामना रखते थे वे ब्रह्मचर्य्याश्रम से भी संन्यास ग्रहण कर लेते थे। तात्पर्य यह है कि जैसा कि उपनिषद् में लिखा है

"सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम्।"

ब्रह्मचारी, तपस्वी (विशेष धर्मानुष्ठानी गृहस्थ, वानप्रस्थ वा संन्यासी) सभी आश्रमियों का मुख्योद्देश्य यह था कि संसार इस प्रकार चलाया जाय जिसमें मनुष्य जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति सिद्ध होती रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति में जो जो बाधाएं उपस्थित होती थीं उनके दूर करने का सर्वोपरि यत्न संन्यासी करता था। वह एक जाति की प्रजाओं के ही परस्पर द्वेष (यदि किसी कारण उत्पन्न हो गए हों) को उन्मूलन करने का यत्न नहीं करता था प्रत्युत वह परिव्राजक नाम को सफल करने के लिए संसार की भिन्न२ मनुष्य जातियों में भी भ्रमण कर उन के बीच प्रीति संस्थापन का यत्न करता था ताकि लोग युद्धादि से पृथक् हो शान्ति-

पूर्वक परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में लगे रहें।

इसी मङ्गल कामना के कारण परिव्राट् संन्यासी एक जाति नहीं प्रत्युत सभी मनुष्य जातियों का पूज्य माना जाता था, लोग उसे जगद्गुरु की उपाधि से भी भूषित करते थे और बड़े २ नरेश उस परिव्राट् के सम्मुख शीश नवाते थे, शोक कि वर्णाश्रम धर्म्म के अप्रचार से आज भारत ही नहीं प्रत्युत पृथिवी के सभी देश मनुष्य जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य की ओर अपनी पूरी दृष्टि नहीं देते।

परमात्मा कृपा करे कि उस प्राचीन वर्णाश्रम धर्म्म का पुनः प्रचार हो ताकि भारत तथा अन्यान्य देश भी पूर्ण सुखी होवें।

महर्षि वचन

यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता है, भोगने वाले दोष भागी नहीं होते, किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है।

जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वह देश सौभाग्यवान् होता है।

महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

गृहस्थ धर्म और
महर्षि दयानन्द सरस्वती

(संस्कार विधि से)

गृहाश्रम संस्कार

'गृहाश्रम संस्कार' उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना, और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना, और सत्य धर्म ही में अपना तन, मन, धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी, इसी का नाम गृहाश्रम संस्कार है।

वधू पूजा

अपने घर आके पति, सासु, श्वसुर, ननन्द, देवर, देवरानी, ज्येष्ठ, जेठानी आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू की पूजा अर्थात् सत्कार करें, सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्तें, और मधुर वाणी, वस्त्र, आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें तथा वधू भी सबको प्रसन्न रक्खे। और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्त्ते, तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म चाल चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे, तथा वर भी स्त्री की सेवा, प्रसन्नता में तत्पर रहे।

वेद में गृहस्थ धर्म

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

अथर्व० कां० ३। सू० ३०। मं० १॥

हे गृहस्थो! मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूं वैसी ही [वर्त्तमान] करो, जिससे तुमको अक्षय सुख हो अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयम्) जैसी अपने लिये सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो वैसे माता पिता सन्तान स्त्री पुरुष भृत्य मित्र पड़ोसी और अन्य सबसे समान हृदय रहो। (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता और (अविद्वेषम्) वैर विरोधादि रहित व्यवहार को तुम्हारे लिए (कृणोमि) स्थिर करता हूँ, तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है वैसे (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे से (अभि हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्त्ता करो।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

अथर्व० कां० ३। सू० ३०। मं० २, ३॥

अर्थः—हे गृहस्थो! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (सं मनाः) प्रीतियुक्त मनवाला, (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त, (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इस प्रकार का प्रेमवाला (भवतु) होवे, वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा

वर्त्ता करो। जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्य गुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे वैसे पति भी (शन्तिवाम्) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे।

हे गृहस्थो ! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा द्विक्षत्) द्वेष कभी न करे, (उत) और (स्वसा) बहिन (सस्वारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण कर्म स्वभाववाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक दूसरे के साथ (वाचम्) सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ४ ॥

अर्थ :—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न वियन्ति) पृथक् भाववाले नहीं होते, (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते, (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूँ (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चिताता हूँ कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्तकर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तःसुधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥

अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ५ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादियुक्त (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान (सुधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते और (संराधयन्तः) परस्पर मिल के धन धान्य राज्य समृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा वियौष्ट) विरोधी वा पृथक् २ भाव मत करो । (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुर भाषण (वदन्तः) कहते हुए एक दूसरे को (एत) प्राप्त होओ इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक दूसरे के सहायक, (संमनसः) ऐकमत्यवाले (वः) तुमको (कृणोमि) करता हूं अर्थात् मैं ईश्वर तुमको जो आज्ञा देता हूँ, इसको आलस्य छोड़कर किया करो ।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥

अथर्व० कां० ३ । सू० ३० । मं० ६, ७ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एकसा हो, (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) खान पान (सह) साथ हुआ करे, (वः) तुम्हारे (समाने) एक से (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) संगी हों और तुमको मैं धर्म्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूं जैसे (अराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिल के

(अग्निम्) अग्नि आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं, वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्तिवाले तुम मिल के धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत) तथा एक दूसरे का हित सिद्ध किया करो।

हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान, (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी, (एकश्नुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होनेवाले, (सर्वान्) सबको (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूँ। तुम (देवाः इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो। ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे।

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता ॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥
स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥

अथर्व० कां० १२। सू० ५। मं० १-३॥

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो ! मैं ईश्वर तुमको आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टा) संयुक्त (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में और (ऋते) यथार्थ पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म में (श्रिता) चलनेहारे सदा बने रहो।

(सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृता) चारों ओर से

युक्त, (श्रिया) शोभायुक्त लक्ष्मी से (प्रावृता) युक्त, (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृता) सब ओर से संयुक्त रहा करो।

(स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिता) सब के हितकारी, (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढा) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे, (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ता) सुरक्षित, (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार, शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिता)प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो, और इन्हीं कर्मों से (निधनम् लोकः) इस मनुष्यलोक को प्राप्त होके मृत्यु-पर्यन्त सदा आनन्द में रहो।

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलञ्च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥

अथर्व कां० १२। सू० ५। मं० ७॥

अर्थ--हे मनुष्यो! तुम जो (ओजः) पराक्रम (च) और इसकी सामग्री (तेजः) तेजस्वीपन (च) और इसकी सामग्री (सहः) स्तुति, निन्दा, लाभ, हानि तथा शोकादि का सहन (च) और इसके साधन (बलञ्च) बल और इसके साधन (वाक् च) सत्य, प्रिय वाणी और इसके अनुकूल व्यवहार (इन्द्रियञ्च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता (श्रीश्च) लक्ष्मी, सम्पत्ति और इसकी प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इसके साधन वा लक्षण हैं, उनको तुम प्राप्त होके इन्हीं में सदा वर्त्ता करो।

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च श्रोत्रं च ॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्त्तं च प्रजा च पशवश्च ॥

अथर्व० कां० १२ । सू० ५ । मं० ८-१० ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुमको योग्य है कि (ब्रह्म च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुणयुक्त मनुष्य और सब के उपकारक शमदमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल (क्षत्रञ्च) विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादिगुणों से युक्त क्षत्रियकुल, (राष्ट्रञ्च) राज्य और उसका न्याय से पालन, (विशश्च) उत्तम प्रजा और उसकी उन्नति, (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज, आरोग्य, शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान और इसकी उन्नति से (यशश्च) कीर्तियुक्त तथा इसके साधनों को प्राप्त हुआ करो। (वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना, (द्रविणञ्च) द्रव्योपार्जन उसकी रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो।

हे स्त्री पुरुषो ! तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ, (च) और सब जीवनमें धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो। (रूपञ्च) विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़ के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो। (नाम च) संज्ञा धारण और उसके नियमों को भी (तथा) (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा को धारण करो और गुणों में दोषारोपणरूप निन्दा को छोड़ दो। (प्राणश्च) चिरकाल पर्यन्त जीवन प्राण का धारण और उसके युक्ताहार विहारादि साधन (अपानश्च) सब दुःख दूर करने का उपाय और

उसकी सामग्री (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान, उपमान (श्रोत्रञ्च) शब्दप्रमाण और उसकी सामग्री को धारण किया करो।

हे गृहस्थ लोगो! (पयश्च) उत्तम जल, दूध और उसका शोधन और युक्ति से सेवन (रसश्च) घृत, दूध, मधु आदि और इसका युक्ति से आहार विहार (अन्नञ्च) उत्तम चावल आदि अन्न और उसके उत्तम संस्कार किये(अनाद्यञ्च) खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल, शाक,कढ़ी आदि (ऋतञ्च) सत्य मानना और सत्य मनवाना (सत्यञ्च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टञ्च) यज्ञ करना और कराना (पूर्त्तञ्च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आराम वाटिका आदि का बनाना और बनवाना (प्रजा च) प्रजा की उत्पत्ति, पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी, (पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत२९ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

य० अ० ४०। मं० २॥

अर्थ—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिये आज्ञा देता हूं कि प्रत्येक मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ हो के (कर्माणि) सत्यकर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं समाः) १०० वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे। (एवम्) इस प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटापनरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता और तुम पापरूप कर्म में

लिप्त कभी मत होओ, इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता। इसलिये तुम स्त्री पुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो।

पुनः स्त्री पुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें। वे मन्त्र ये हैं :—

भूर्भुवः स्वःसुप्रजाःप्रजाभिःस्याꣳसुवीरोवीरैः सुपोषःपोषैः। नर्य प्रजां मे पाहि शꣳस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि॥
गृहा मा बिभती मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥

य० अ० ३। मं० ३७, ४१॥

अर्थ—हे स्त्री वा पुरुष! मैं तेरे वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक, वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त हो के (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम्) होऊं (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से सह वर्त्तमान, (सुवीरः) उत्तम वीरों से सहित होऊं। (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊं। हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन्! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन् आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (अथर्य) अहिंसक दयालो स्वामिन्! (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये। वसे हे नारी! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर।

हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश

करने से (मा बिभीत) मत डरो, (मा वेपध्वम्) मत कम्पायमान होओ, (ऊर्ज्जम्) अन्न पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो, इसलिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने ! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त तुझको और हे मेरे पूजनीयतम पिता आदि लोगो ! (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (गृहान्) तुम गृहस्थों को (आ एमि) सब प्रकार प्राप्त होता हूँ, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न होके वर्त्ता करो।

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः।

गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः। क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳशंयोः शंयोः।

यजु० अध्याय ३। मं० ४२, ४३।

अर्थः—हे गृहस्थो ! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (येषाम्) जिनका (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) प्रीति होती है उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उप ह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीप बुलाते हैं, (ते) वे गृहस्थ लोग (जानतः) उनको जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु)

सुदृढ़ जानें, वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिल के पुरुषार्थ से, व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें।

हे गृहस्थो! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देनेवाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवें, हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें। हे गृहस्थो! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षरण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिए (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं। मैं और आप लोग प्रीति से मिल के (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त हो के अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें।

मनु और गृहस्थ धर्म

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्ता भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते॥

मनु० अ० ३, श्लो० ६०, ६१॥

अर्थः—हे गृहस्थो! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है, और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है।

यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रक्खे वा पुरुष को प्रहर्षित न

करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न हो के सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं।

स्त्रियान्तु रोचमानायां सर्वन्तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥

मनु० अ० ३३। श्लो० ६२॥

अर्थः—और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुल भर अप्रसन्न, शोकातुर रहता है, और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहु कल्याणमीप्सुभिः॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥

मनु० अ० ३। श्लो० ५५-५८॥

अर्थः—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें, अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें। जिनको कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें।

जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस

कुल में दिव्य गुण, दिव्यभोग और उत्तम सन्तान होते हैं, और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहाँ जानो उनकी सब क्रिया निष्फल है।

जिस कुल में स्त्री लोग अपने २ पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है, और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है।

जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्री लोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों का एकवार नाश कर देवें वैसे चारों ओर से नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥

मनु० अ० ३। श्लो० ५९॥

अर्थः—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण, वस्त्र, खान, पान आदि से पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥

मनु० अ० ५। श्लो० १५०॥

अर्थः—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्त्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भोजनादि जितना

नित्य धन आदि लगे उसके यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे।

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥

अर्थः—यदि स्त्रियां दुष्टाचारयुक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियां अपने २ पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट होगईं, होती हैं और होंगी भी, इसलिये यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियां श्रेष्ठ, और पुरुष दुष्ट हों तो दुष्ट हो जाती हैं, इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम हो के अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिये।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥

मनु० अ० ६ । श्लो० २६-२८ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

मनु० अ० ६ । श्लो० ७७ ॥

अर्थः—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहस्थाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने करानेहारी घरों में स्त्रियां हैं, वे श्री अर्थात्

लक्ष्मी स्वरूप होती हैं क्योंकि लक्ष्मी शोभा, धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है।

हे पुरुषो! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहारों का नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है उसका निबन्ध करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है।

सन्तानोत्पत्ति, धर्मकार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, यह सब स्त्री ही के आधीन होता है।

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह होता है।

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥
सः संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥

मनु० अ० ३ । श्लो० ७८-७९ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः सः त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि ॥

मनु० ६ । ८९ ॥

अर्थः—जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है, इसलिये व्यवहार में गृहस्थाश्रम सबसे बड़ा है॥

हे स्त्री पुरुषो ! जो तुम अक्षय मुक्ति सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो।

वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
मनु० अ० ६। श्लो० ९०॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम्॥
मनु० अ० ३। १०४, १०७॥

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥
मनु० अ० ४। श्लो० ३०॥

अर्थः—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े २ नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं।

यदि गृहस्थ हो के पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते

हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं, क्योंकि पराये से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ।

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें, तब आसन, निवास, शय्या, पश्चाद्गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट सम्मान करे, ऐसा न हो कि कभी न समझें ।

किन्तु जो पाखण्डी, वेदनिन्दक, नास्तिक ईश्वर वेद और धर्म को न मानें, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी कुतर्की और वकवृत्ति अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान, अतिथिवेषधारी बन के आवें, उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ।
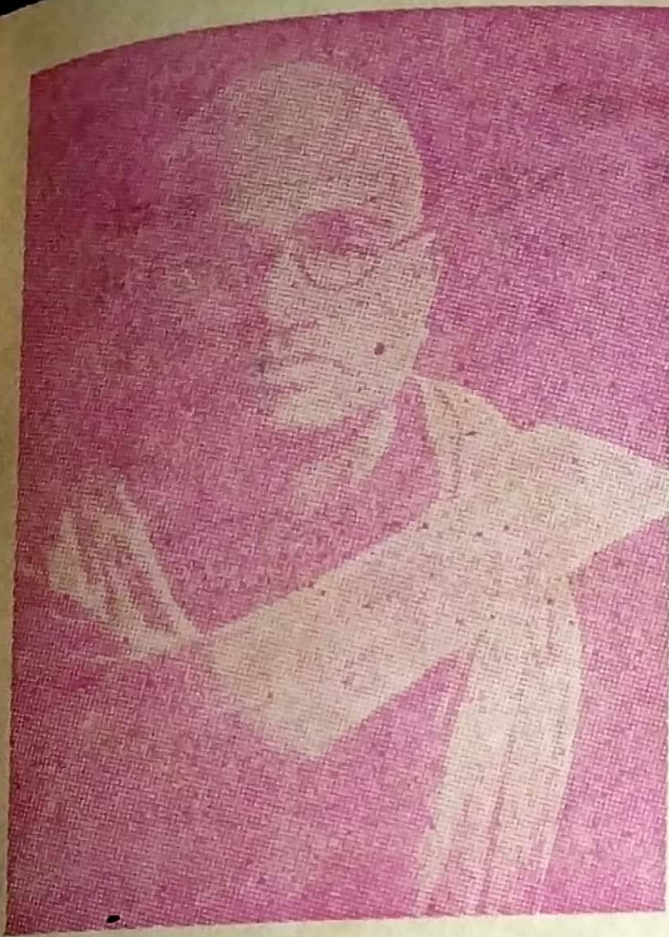
आचार्य रामदेव जी

आचार्य रामदेव जी का जन्म ३१ जुलाई १८८१ ई० को ग्राम बजवाड़ा होशियारपुर में हुआ था। महात्मा हंसराज जी का जन्मस्थान भी यही ग्राम था। प्राइवेट रूप से बी० ए० की परीक्षा पास की। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अंग्रेजी मुखपत्र 'आर्य पत्रिका' का सम्पादन किया।

जालन्धर छावनी के विक्टर हाई स्कूल में हैड मास्टरी की। जींद राज्य में स्कूलों के इन्सपेक्टर नियत हुए। महात्मा मुन्शीराम जी के अनुरोध पर गुरुकुल कांगड़ी को जीवन दान करके गुरुकुल के हो गये और १९३९ में दिवंगत हुए।

श्री आचार्य जी हिन्दी और अंग्रेजी के प्रौढ़ लेखक, वक्ता और विद्वान् थे। उनकी टक्कर का व्याख्याता और विद्वान् बिरला ही होगा।

सम्पादक:-
रामगोपाल शालवाले, सभामन्त्री

सह सम्पादक
रघुनाथप्रसाद पाठक

सृष्टि सम्वत १९७२९४९०७०
दयानन्दाब्द १४५
विक्रम सम्वत् २०२६
श्रावणी पूर्णिमा-वेद सप्ताह
बुद्धवार, २७ अगस्त १९६९
वर्ष ४, अंक ४३

साप्ताहिक १ प्रति १५ पैसे
विदेश में १ पौंड
वार्षिक ७) रुपया
इस अंक का मूल्य
२५ पैसा